Regd. No. 2607/1-V8522 **ISSN: 0970-1745**

Shodh

[A Triannual Bilingual Peer Reviewed Refereed Research Journal of Art & Humanities]

Vol. XV [Issue No. 1, 2 & 3 combined] Jan.– Dec. 2018

Chief Editor

Dr. Surendra Pandey

Editors

Dr. Vikash Kumar

Dr. Shailendra Kumar

Published by
History & Historical Writing Association, U.P., Varanasi (INDIA)
HIG-4, VDA Colony, Lalpur-II, Chandmari, Varanasi
Mob. 9451173404, Email:

Note: The responsibility of the facts given and opinions expressed in articles of journal is solely that of individual author and not to the publisher.

First Issue Publication 1984

Chief Editor :
Dr. Surendra Pandey
C-2, Satendra Kumar Gupta Nagar,
Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

Editor

(i) Dr. Vikash Kumar
Civil Line, Takiya Road,
Sasaram, Rohtas, Bihar

(ii) Dr. Shailendra Kumar
Assistant Professor,
Department of Management
Sikkim University, Sikkim

Executive-Editor

Dr. Santosh Bahadur Singh
Assistant Professor
Department of English
Lady Irwin College, University of Delhi

Co-Editor

Ripunjay Kumar Singh
Research Scholar,
Department of Hindi
Banaras Hindu University

Sub-Editor

Dr. Abhay Kumar
Assistant Professor, Department of Hindi,
Deshbandhu College, Delhi University

Shodh

......A Triannual Bilingual Refereed Research Journals of Arts & Humanities

Patrons

Dr. Jai Ram Singh

Principal Degree College, Palahipatti, Varanasi

Editorial Board

1. **Prof. Hirocko Nagasaki**, Osaka University, Japan.
2. **Prof. Ashok Singh,** Department of Hindi, Banaras Hindu University.
3. **Prof. Ravindra Nath Singh,** AIHC Department, Banaras Hindu University.
4. **Prof. Rangnath Pathak,** Department of Hindi, Banaras Hindu University.
5. **Prof. Chandrakala Tripathi,** Department of Hindi, Banaras Hindu University.
6. **Prof. Anita Singh,** Department of English, Banaras Hindu University.
7. **Prof. Abha Singh,** Pro Vice Chancellor, B.N. Mandal University, Bihar.
8. **Prof. Yogesh Kumar Sharma,** Department of English, Swami Shraddhanand College, University of Delhi.
9. **Prof. Sanghmitra,** Department of Political Science, Bodoland University, Assam.
10. **Dr. Nirmla Kumari,** Associate Professor, Hindi Department, Shri Varshney College, Aligarh.
11. **Dr. O.P. Singh,** Harishchandra P.G. College, Varanasi.
12. **Santosh Patel,** President Bhojpuri, Jan Jagaran Abhiyan, New Delhi.
13. **Dr. Ratnesh Tripathi,** Assistant Professor, Department of History, Satyawati College, University of Delhi.
14. **Dr. Vikash Kumar Singh,** Assistant Professor, AIHC Department, Banaras Hindu University.
15. **Dr. Varsha Singh,** Assistant Professor, English Department, Deshbandhu College, Delhi (DU).
16. **Vijay Kumar,** Assistant Professor, Department of English, Satyawati College, University of Delhi.
17. **Dr. Bhartendu Kumar Pathak,** Assistant Professor, Department of Hindi, Kashmir University, Shrinagar (J&K).
18. **Dr. Priyadarshini,** Assistant Professor, Department of Hindi, The English Foreign Languages University, Haiderabad, Telangana.

Content

1.	पर्यावरण संकट को उत्पन्न करने वाले कारण एवं समाधान : एक भौगोलिक अध्ययन **डा0 राजीव कुमार**	7-12
2.	बीड़ी उद्योग के श्रमिकों की कार्यप्रणाली की दिशा और दशा का समाज में प्रभावः अधिनियमों के परिप्रेक्ष्य में **जुगुल किशोर सिंह**	13-18
3.	Contradictions of Self-Determination, Demands for a Plebiscite and Secession in Jammu & Kashmir **Pritam Kumar**	19-26
4.	रवीन्द्र कालिया के उपन्यासों की संवेदना **रिपुंजय कुमार सिंह**	27-32
5.	भारत में पंचायती राज संस्थाओं के उदय और विकास में मील के पत्थर **डॉ0 मु0 इकबाल खाँ**	33-35
6.	प्रारम्भिक आधुनिक भारत की निर्वाचकीय राजनीति में महिलाओं की सहभागिता (1900–1947) **डॉ0 विवेक सेंगर**	36-38

7.	सूचना एवं प्रौद्योगिकी : हिंदी की भूमिका **डॉ0 ऋचा द्विवेदी**	39-41
8.	भारत में भू–राजस्व व्यवस्था : एक ऐतिहासिक अध्ययन **डॉ0 शलभ चिकारा**	42-45
9.	पूँजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की भूमिका **डॉ0 विमलांशु शेखर पाठक**	46-47
10.	**व्यञ्जना विचारः** **डॉ0 शशि मौलि नाथ पाण्डेय**	48-50
11.	शिक्षा : मानव जीवन और समाज की महत्वपूर्ण कड़ी **प्रो0 (डॉ0) सुभाष चन्द्र सिंह**	51-53
12.	मन्नू भण्डारी की चुनी हुई कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन **अपराजिता मिश्रा**	54-57
13.	शेख अहमद खट्टू सरखेजी **डॉ. मोहम्मद आदिल**	58-62
14.	भोजपुरी भाषा में लोक साहित्य का योगदान **डॉ0 विकास कुमार**	63-66

15.	श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों का यथार्थ चित्रण **डॉ0 अरुण कुमार मिश्र**	67-76
16.	भारत में सोशल मीडिया का बढ़ता दायरा और उसके विभिन्न आयाम **रमापति यादव**	77-80
17.	आधुनिक भारत में किसान आंदोलन **डॉ0 अर्चना गोस्वामी**	81-83
18.	हिन्दी कहानी की विरासत **डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय**	84-94
19.	'असाध्य वीणा': नास्तिकता से आस्तिकता की यात्रा **डॉ0 भारतेंदु कुमार पाठक**	95-96
20.	सतत् विकास के अन्तर्गत पर्यावरण नीतिशास्त्र की उपादेयता **डॉ0 विनीत कुमार मिश्र**	97-99
21.	अज्ञेय की कहानियों में स्त्री परक दृष्टिकोण **डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल**	100-104
22.	मार्कण्डेय के उपन्यास सेमल के फूल में आंचलिकता **डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल**	105-112

पर्यावरण संकट को उत्पन्न करने वाले कारण एवं समाधान : एक भौगोलिक अध्ययन

डा0 राजीव कुमार
एसो0 प्रोफेसर, भूगोल विभाग
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

पर्यावरण का शब्द कोषीय अर्थ है आस–पास या पास पडौस मानव, जंतुओ या पौधों की वृद्धि एवं विकास को प्रभावित करने वाली दशायें कार्यप्रणाली तथा जीवन यापन की दशाऐं पर्यावरण का सामान्य अर्थ भौतिक परिवेश से है जो पृथ्वी के जैव जगत का आवृत्त किये हुए हैं तथा जिसके प्रभाव से जीवन स्पन्दित होता है । पर्यावरण को परिभाषित करते हुए हर्सकोविट्स लिखते हैं कि ''पर्यावरण सम्पूर्ण वाहय परिस्थितियों और उसका जीवधारियों पर पडने वाला प्रभाव है जो जैव जगत के विकास चक्र का नियामक है।[1] वॉटकिन एण्ड किलर के अनुसार पर्यावरण अध्ययन के अन्तर्गत उन सभी जीवन का अध्ययन सम्मिलित किया गया है जो जीवमण्डल में विद्यमान होते हैं। पृथ्वी की पपडी में कुछ मीटर की गहराई, समुद्रों की अधिक गहराई तथा पर्वतों की ऊँचाई में रहने वाले जीवों के अध्ययन को पर्यावरण अध्ययन के अन्तर्गत स्वीकार किया गया है[2] फिटिंग के अनुसार पर्यावरण का अर्थ जीव के परिस्थिति कारकों का योग है अर्थात जीवन की परिस्थिति के समस्त तथ्य मिलकर पर्यावरण कहलाते हैं[3] पार्क के अनुसार पर्यावरण का अर्थ उन दशाओं के योग से होता है जो मुनष्य को निश्चित समय में निश्चित स्थान पर आवृत करती है।[4] गाउडी ने लिखा है कि ''पृथ्वी के भौतिक घटक ही पर्यावरण का प्रतिनिधि करते हैं तथा पर्यावरण को प्रभावित करने में मुख्य एक महत्वपूर्ण कारक हैं।[5]उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि पर्यावरण सजीवों के जीवन और विकास को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करने वाली दशाओं का योग है ।

पर्यावरण के विभिन्न तत्वों की परस्पर अर्न्तक्रियाओं के परिणामस्वरूप धीरे–धीरे जैविक पदार्थों का आविर्भाव होता है पर्यावरण के गत्यात्मक होने के कारण ही इसमें समय स्थान के साथ–साथ परिवर्तन होता रहता है। मानव, पर्यावरण का अभिन्न अंग होने के कारण वह पर्यावरण का उपयोग अपने जन्म के साथ ही प्रयोग करता है। मानव की प्रगति के साथ यह उपयोग बढता जा रहा है। प्राचीन समय में आदि मानव, पर्यावरण का दोहन सीमित मात्रा में करता था जिससे पर्यावरण के सन्तुलन में कोई बड़ा हानिकारक प्रभाव नहीं पडा किन्तु औद्योगिक तथा तकनीकी विकास के साथ पर्यावरण का दोहन बढ़ता गया। जिससे पर्यावरण का बडी मात्रा में हनन होने लगा। पर्यावरण के अत्यधिक दोहन में अनेक समस्यायें उत्पन्न हा रही हैं जिससे जीवधारियों के जीवन पर संकट और पारिस्थितिकी के संकट का कारण वनता जा रहा है जिसे निम्न मॉडल के रूप में दर्शाया गया है:

पर्यावरण का अतिदोहन

↓

पर्यावरण ह्रास

↓

परिस्थितिकीअसन्तुलन

↓

पारिस्थिकी संकट

मॉडल–1

पर्यावरण संकट के मुख्यतया दो कारण हैं जो क्रमशः–(I) प्राकृतिक क्रिया कलाप– तथा (ii)मानवीय क्रिया कलाप

(i) **प्राकृतिक क्रिया कलाप–** प्राकृतिक कारणों द्वारा उत्पन्न उन घटनाओं जिनके द्वारा प्रकृति यकायक परिवर्तन होते रहे तथा पर्यावरण की गुणवत्ता एवंजीवधारियों की अपार क्षति होती है, को प्राकृतिक प्रकोप कहते हैं। ऐसे प्राकृतिक प्रकोप निम्नवत् है।

(a). वाढ़
(b) सूखा
(c) मरूस्थलीकरण
(d) मृदा अपरदन
(e) भूकम्पन
(f) ज्वालामुखी
(g) चक्रवात एवं तूफान
(h) दावाग्नि

उपरोक्त प्राकृतिक क्रिया कलापों से पर्यावरण संकट के कारण अवश्य है लेकिन इन क्रियाओं को मानव द्वारा रोका नहीं जा सकता ।

(ii) **मानव क्रियाकलाप–**

पर्यावरण में मानवीय क्रिया कलापों से पर्यावरण संकट बहुत अधिक गहरा हो गया है। यहां तक कि मानवीय अत्यधिक क्रिया कलापों से उपरोक्त प्राकृतिक प्रकोपों की प्रभावशीलता बढ़ी है । मानवीय क्रिया कलापों के कारण से उपभोक्तावाद, वन विनाश, वन्य जीवों का विकाश वृद्धि एवं पशुपालन, अत्यधिक भूमि जल को उपयोग से सिंचाई, जनसंख्या वृद्धि, औद्योगीकरण, नगरीयकरण, बडे–बडे बॉधों का निर्माण, अत्यधिक खनन, ऊर्जा का बढता उपयोग आदि अनेक कारण हैं जो पर्यावरण के संकट को उत्पन्न कर रहे हैं । इन कारणों को निम्न प्रकार समझा जा सकता हैः–

1. पर्यावरण संकट का प्रथम व सबसे बडा कारण उच्च उपभोगवादी संस्कृति है। यह उपभोगवादी संस्कृति ऐसे उद्योग को विकसित करती है जो सेवाओं और वस्तुओं से सम्बन्धित अभीष्ट इच्छा की पूर्ति करता है । इस उपभोगवादी संस्कृति का मूल उद्देश्य इसमें निहित है किवह अधिक से अधिक अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्यावरण संसाधनों का दोहन कर सके। मानव प्रकृति के साथ मित्रवत् सम्बन्धों के स्थान पर शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने लगा है। वह विकास की दौड में तथा तात्कालिक लाभों के लिए पर्यावरण का अनियत्रित शोषण करने लगा है। मानव ने प्रकृति को मात्र उपभोग की वस्तु को समझ लिया है जो क्रिश्चियन धार्मिक परम्परा की देन माना जाता है। डेंटव्यलर ने इस संदर्भ में लिखा है कि ''मानव को अपनी इच्छानुसार संसाधनों का उपभोग करना चाहिए। भौतिक सृष्टि की कोई भी चीज ऐसी नहीं है जो मुनष्य की सेवा के उद्देश्य से न बनी हो।[1]यही सोच भी पर्यावरण संकट को बढावा दे रही है ।
2. दूसरा कारण पृथ्वी पर वनों का दिनों दिन कम होना है। विश्व के कुल भूक्षेत्र का लगभग 30 प्रतिशत क्षेत्र पर वन होना चाहिए। विश्व में 9.8 अरब एकडमें फैले वन क्षेत्र का 2/3भाग वन रूस, ब्राजील, अमेरिका, कनाडा, चीन, आस्ट्रेलिया, कॉंगो, इन्डोनेशिया अंगोला तथा पेरू देशों में है । 20वीं शताब्दी के अंतिम दशक में 3.8 एकड भूमि पर वन क्षेत्र समाप्त हो गये हैं अनेकों प्रयत्नों के बाद भी 2.4 करोड एकड वन क्षेत्र प्रति वर्ष समाप्त हो रहा है यदि यही रफ्तार वनों को समाप्त होते ही रही तो विश्व में 40–50 वर्षें से ही पृथ्वी के पेड पौधों का नामो निशान मिट जायेगा। इन वनों के विनाश से लोगों का जीवन प्रभावित हुआ है वनों के विनाश का प्रमुख कारण जनसंख्या वृद्धि, पशुपालन, औद्योगीकरण, खनन तथा बडे बॉधों के निर्माण के अतिरिक्त सूखा, बाढ, ज्वालामुखी, चक्रवात आदि प्राकृतिक आपदाओं के कारण से वनों की

हानि है। वनों में आग लगने की घटनाओं के कारण से भी वन क्षेत्र में लगातार कमी हो रही है ।

3. तीसरा कारण प्राणी संपदा का विनाश है प्राणियों की जाति के संकटग्रस्त होने से जैव जगत के सभी घटक प्रभावित होते हैं। वन्य जीवों का विनाश भी पर्यावरण के संकट का एक कारण है। खाद्य श्रृंखला तथा ऊर्जा प्रवाह के द्वारा वनस्पति, प्राणी व मानव में गहन सम्बन्ध होता है। अनेक कीडे, मकोडे, फफूदों से खाकर तथा पक्षी हानिकारक कीडे मकोडों को खाकर पौधों की रक्षा करते हैं । प्राणी वैज्ञानिकों के अनुसार विश्व में लगभग 50 लाख से अधिक प्रकार के जीव जन्तु पाये जाते हैं। जिनमें से अभी तक 14 लाख को ही पहचाना गया है। विश्व में विभिन्न कारणों में जीवजन्तुओं की संख्या में निरंतर कमी आ रही है जो चिन्ताजनक विषय है। एक सर्वेक्षण अनुसार प्राणी सम्पदा की 25प्रतिशत जातियॉ संकट ग्रस्त अवस्था में पहुंच गयी है। प्रकृति संरक्षण अन्तराष्ट्रीय संघ (आईसीयूएन) के अनुसार रेड डेटा वुक से 16000 जीव जातियों के विलुप्त होने का खतरा उत्पन्न हो गया है।इनमें से प्रमुख गेंडा, साइवेरियन टाइगर, चीता, भेडिया, पर्वतीय गोरिल्ला, बारहसिंगा, मोट, आदि हैं जो विलुप्त होने कें कगार पर है ।
4. चौथा कारण बढती जनंसख्या की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए प्राकृतिक घास स्थलों व वनों को साफ करके कृषि भूमि का विस्तार करना है । जनसंख्या की तीव्र वृद्धि दर तथा उन्नत यत्रों के प्रयोग ने कृषि भूमि के विस्तार को कई गुना बढा दिया है। उन्नत बीजों, रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों आदि का प्रयोग करके कृषि उत्पादन को कईगुना बढा दिया है। 20वीं शताब्दी में नवीन कृषि विधियों द्वारा खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि को हरितक्रांति का नाम दिया गया । कृषि के विस्तार से निम्न प्रभाव दिखाई दे रहे हैं –

(i)कृषि क्षेत्रों के विस्तार से वनों का निरन्तर ह्रास

(ii)फसलों के अत्यधिक उत्पादन के लिए रासायनिक उर्वरकों का अत्यधिक प्रयोग से मृदा, जलवायु का प्रदूषित होना ।

(iii)असिंचित क्षेत्रों में सिंचाई हेतु बढे–बढे बाधों के निर्माणों से वनों का विनाश

(iv)वन कटाव से जीव जन्तुओं के स्थानान्तरण अथवा मरने से भारत में नवोदित उत्तरांचल राज्य में पर्वतीय क्षेत्रों में सीढ़ी नुमा खेतों का निर्माण, चाय तथा फल उद्यान के विकास हेतु कृषि क्षेत्रों का विस्तार कियेजाने से पर्वतीय क्षेत्र का भौतिक पर्यावरण प्रभावित हो रहा है। हिमांचल प्रदेश में सेव के वागानों के विस्तार हेतु अन्यान्य वनस्पतियों को साफ किया गया है जिससे प्राकृतिक वन क्षेत्र का ह्रास हुआ है। साथ ही सेव की पैकिंग हेतु लकडियों की आवश्यकता के कारण वृक्षों को निर्दयता से काटा जा रहा है।संघन कृषि और कृषि क्षेत्र के विस्तार के कारण पर्यावरणीय संकट उत्पन्न हो गया है। हरित क्रांति के फलस्वरूप वन विनाश से पर्यावरण में असन्तुलन उत्पन्न हुआ है रासायनिक उर्वरकों तथा कीट नाशकों के अत्यधिक उपयोग से मृदा भी प्रदूषित हो गयी है। मृदा से जैविक अंशों में कमी होने से उसकी गुणवत्ता के नष्ट होने से मृदा अपरदन की प्रक्रिया तीव्र हुई है ।

5. मृदा का अत्यधिक शोषण से मिट्टी के अपरदन के साथ ही उर्वरा शक्ति का ह्रास भी पर्यावरण की समस्या का कारण वन गयी है। यह समस्या सघन आवादी एवं गहन कृषि वाले क्षेत्रों में अधिक है। भूमि के छोटे से क्षेत्र पर अधिकाधिक उत्पादन लेने के लिए वर्षभर फसलें लेते समय भूमि को छोटी अवधि के लिए भी खाली नहीं छोडा जा रहा है। उर्वरता का ह्रास मिट्टी के निरंतर उपयोग, भूमि की क्षमता से अधिक फसलों का उपजाना, अधिक सिंचाई, जैविक उर्वरकों के स्थान पर रासायनिक उर्वरकों का अधिक प्रयोग, कीट नाशकों का अधिक प्रयोग फसलों का हेरफेर न होना, अति पशुचारण आदि कारणों से पर्यावरण में संकट को और अधिक बढावा मिल रहा है ।
6. पर्यावरण के संकट को वढाने में अति पशुचारण भी जिम्मेदार है। मानव द्वारा अत्यधिक दूध मॉस, खाल ऊन पदार्थों के उपयोग से पशुपालन क्षेत्रों के निरन्तर विस्तार में वन क्षेत्र, चारागाह क्षेत्र में बदल गये है। भारत के हिमालय क्षेत्र व दक्षिणी पठार पर अनियमित पशु चारण से वनस्पति नष्ट हो रही है तथा मृदा का अपरदन भी बढ रहा है। निरन्तर बढता पशु घनत्व

पर्यावरण के संकट को बढा रहा है भारत में साधारण नस्ल के पशुओं की संख्या भी बहुत अधिक है। विश्व में 19 प्रतिशत पशु संख्या के साथ भारत में विश्व के सर्वाधिक पशु हैं । पशुओं की अधिक संख्या होने से अधिक चारा और जल प्राप्त करने हेतु पर्यावरण पर निरन्तर दबाव बढता जा रहा है ।

7. पर्यावरण संकट को उत्पन्न करने वाले कारकों में अत्यधिक सिंचाई साधनों का विकास भी हैं। बांध बनाकर तथा नदियों से नहरें निकालकर सिंचाई करने के लिए कृषि क्षेत्र व उत्पादन में अत्यधिका वृद्धि हुई है लेकिन अनियमित जल प्रबन्धन के कारण सिंचित क्षेत्रों में लवणीकरण, क्षारीयकरण व जल प्लावन जैसी अनेक समस्याऐं उत्पन्न हो गयी। राजस्थान नहर के वन जाने से अत्यधिक सिंचाई के कारण जल प्लावन की समस्या वन गयी है जिसे स्थानीय रूप में सेम कहा जाना है सेम ग्रस्त क्षेत्रों में निचले स्थानों पर पानी भर जाता है और आसपास की भूमि दलदली और क्षारीपन गयी है ।

   सिंचाई हेतु ऊपरी जल के अतिरिक्त अत्यधिक भूमिगत जल का दोहन करने से कृषि क्षेत्र में वृद्धि तो हुई है किन्तु भूमिगत जल के स्तर के घटने से जल संकट तीव्र गति से बढ गया है। फलस्वरूप अनेकों राज्यों में भूगर्भीय जल विभाग द्वारा डार्क जोन घोषित कर दिया गया है। दोषपूर्ण अथवा अत्यधिक सिंचाई से तथा अत्यधिक जल दोहन में पर्यावरणीय संकट दिनोंदिन बढ़ रहा है।

8. पर्यावरण संकट को उत्पन्न करने में जनसंख्या वृद्धि का भी योगदान है विश्व में बढती हुई जनसंख्या के अध्ययन से स्पष्ट है कि 19 शताब्दी के प्रारम्भ में विश्व के जनसंख्या 100 करोड थी। 1960 में विश्व की जनसंख्या 300 करोड हो गयी अगले 100 करोड तक पहुचने में मात्र 14 वर्ष लगे और उसके बाद 13 वर्ष ही लगे। 12000 के अन्त तक विश्व की जनसंख्या 6 अरव से अधिक हो गयी तथा 2011 में विश्व की जनसंख्या 7 अरव पार कर गई। तीव्र गति से बढती जनसंख्या के कारण प्राकृतिक संसाधनों पर अत्यधिक दववा के बढने से पर्यावरण संकट बहुत अधिक हो गया है जनसंख्या वृद्धि के कारण से कृषि क्षेत्रों का विस्तार, नगरीकरण,औद्योगीकरण तथा वन विनाश के होने से पर्यावरण संकट के बढाने में अपना योगदान दिया है ।
9. औद्योगीकरण के बढने से पर्यावरण के संकट पर गम्भीर परिणाम हो रहे हैं औद्योगिक क्रान्ति के बाद से यूरोप तथा विश्व के अन्य भागों में उद्योगों की स्थापना बडे पैमाने पर होने से कच्चे माल की आपूर्ति प्राकृतिक संसाधनों का तीव्र गति से दोहन होने लगा है । बढते औद्योगीकरण से लोगों का जीवन स्तर में सुधार हुआ किन्तु पर्यावरण में ह्रास भी उसी अनुपात में बढ गया वनों का विनाश, उद्योगों से निकलने वाले हानिकारक पदार्थों से प्रदूषण, जल संकट अति नगरीयकरण आदि की समस्याऐं उत्पन्न हुई। कागज, रेयन, प्लाईवुड आदि उद्योगों में कच्चे माल की आपूर्ति के लिए बडी मात्रा में वृक्षविनाश अर्थात वन विनाश से वन क्षेत्रों में निरन्तर औद्योगिक देशों में प्राकृतिक संसाधनों की कमी होने से वे अन्य देशों के संसाधनों का उपयोग करने लगे हैं विश्व की आधी से अधिक जनसंख्या नगरों में से केन्द्रित है जिसके कारण गंदी वस्तियों का सर्वाधिक विस्तार औद्योगिक नगरों में बढा है। जिसके कारण विभिन्न प्रकार के प्रदूषणों को बढ़ने से पर्यावरण संकट दिनों दिन बढ़ रहा है । विकसित देशों द्वारा उन्नत तकनीक को अन्य देशों को उपलब्ध न कराने से पर्यावरणीय समस्याऐं और बढ़ी हैं। औद्योगिक देशों में ऊर्जा उपभोग की बढती दर के कारण एक ओर ऊर्जा संकट हो रहा है दूसरी ओर वायुमण्डल में कार्वनडाइआक्साइड की मात्रा बढ़ रही है। हरित ग्रह प्रभाव से भी तापमान की वृद्धि हो रही है जिससे अनेक जीवों के अस्तित्व पर सकंट उत्पन्न हो गया है ।
10. मानव प्रौद्योगिकी के विकास को प्रौद्योगिक क्रान्ति कहा जाता है इससे उद्योग, कृषि, परिवहन चिकित्सा आदि विभिन्न क्षेत्रों को प्राप्त हुआ है किन्तु नयी तकनीक से निर्मित विभिन्न उपभोक्ता सामग्री मानव स्वास्थ्य तथा पर्यावरण पर दुष्प्रभाव डाल रही है। प्रौद्योगिकी विकास से मनुष्य और पर्यावरण के मध्य अंतःक्रिया ने एक खतरनाक मोड ले लिया है वायु, जल, वायुमण्डल, वन नदियाँ पौधों और प्रकृति के अनेक तत्वों को प्रौद्योगिकी क्षमता ने प्रभावित किया है और इन्हीं के कारण प्राकृतिक संसाधनों का दोहन हुआ है। संसाधनों के अति दोहन से पर्यावरण के सामजस्य को विचलित कर दिया है अर्थात पर्यावरण के संकट का कारण बन गया है। प्रकृति

में अपघटन न होने के कारण से प्लास्टिक कचरे का निपटान भी पर्यावरण को हानि पहुँचा रहा है। ई– वेस्ट भी मानव स्वास्थ्य को हानि पहुँचा रहे हैं आणविक विस्फोटों व घातक हथियारों के प्रयोग से विश्व पर्यावरण को खतरा उत्पन्न हो गया है ।

11. औद्योगिक क्रान्ति के बाद विश्व में नगरीयकरण के बढने से नगरीय जनसंख्या में तीव्र वृद्धि हुई है 1960–1990 के मध्य नगरीय जनसंख्या में अधिक वृद्धि हुई । इस अवधि में यूरोप में नगरीयकरण 40प्रतिशत से बढकर 73 प्रतिशत, आस्ट्रेलिया में 65 से 85प्रतिशत संयुक्त राज्य अमेरिका में 70 से 75प्रतिशत रूस में 36 से 66 प्रतिशत, अफ्रीका में 13 से बढकर 32 प्रतिशत तथा एशिया में 18 से बढकर 31 प्रतिशत हो गया। बढते नगरीकरण के कारण कृषि भूमि का अतिक्रमण, प्रदूषण, गंदी वस्तियों का विस्तार, अवशिष्ट कूडा करकट, जल संकट तथा जन सुविधाओं पर कमी के रूप में पर्यावरणीय संकट दिनों दिन बढ़ रहा है जिससे अनेक पर्यावरणीय समस्याएं विकराल रूप धारण कर रही हैं ।
12. पर्यावरण के संकट में मानवीय कारण को अनदेखा नहीं किया जा सकता। पर्यावरण की स्वच्छता के बार में नगर वासियों तथा उद्योगपतियों की लापरवाही और जनसुविधाओं जैसे शौचालय, गटर, कूडा–करकट इकट्ठा करने की पेटिया इत्यादि की पंगु स्थिति वातावरण में इतना प्रदूषण फैलाती हैं कि स्वच्छ पर्यावरण का अभाव हो जाता है तथा स्वच्छ रहन–सहन एक चुनौती बन गया है।

<u>पर्यावरण बचाने हेतु समाधान–</u> उपरोक्त विवरण के बाद यह स्पष्ट है कि पर्यावरण संकट दिनों दिन बढ़ता जा रहा है आवश्यकता इस बात की है कि पर्यावरण संकट को किस प्रकार से रोका जाये ताकि मानव भविष्य सुरक्षित हो सके व मानवीय अस्मिता दीर्घायमान हो सके। इस हेतु कुछ आम सहमतिजन्य समाधान को विश्वस्तर पर मान्यता दी गयी है जो इस प्रकार से हैः–

1. औद्योगीकृत कृषि को कम करना होगा ।
2. बड़े–बड़े बांधों के निर्माण को रोकना होगा। बांध, पर्यावरण में घोर संकट पैदा करते हैं इससे उत्पन्न असन्तुलन एक भयानक संकट को जन्म दे रहा है।
3. जनसंख्या विस्थापन को रोकना होगा क्योंकि अपने परम्परागत गृह से विस्थापित लोग तकनीकी समस्या के साथ ही विविध असाँमजस्यपूर्ण कार्यों से पर्यावरण को क्षति पहुंचाते हैं।
4. संरचानात्मक सामंजस्य की व्याप्त समस्या के निदान कोढूढना होगा ताकि प्राकृतिक संसाधनों के बढते दबाव वन तथा कटाव को रोका जा सके ।
5. विषैले पदार्थों व रेडियोधर्मी कचरे के बढ़ते बाजार को रोकना होगा क्योंकि ये पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं तथा मानव जीवन को संकट में डालते हैं। इसके लिए कानूनी प्रावधान भी करना होगा ।
6. राष्ट्र की सुरक्षा हेतु सेना, पर्यावरण नियामको की अवहेलना करती है व अपने क्रिया कलापों के दौरान ईधन, कचरा, अखण्डित गोला वारूद व खतरनाक हथियार फैकती है जो पूर्णरूप से पर्यावरण का क्षय करता है जिसे नियंत्रित करना होगा।
7. परमाणु परीक्षण वैश्विक पर्यावरण को काफी क्षति पहुँचाते हैं, परमाणु हथियार विविध आनिकारक किरणों को मुक्त करती है जो मानव शरीर में कैंसर, ट्यूमर, प्रजनन गर्भपात इत्यादि को बढाती है अतः परमाणु परीक्षण को सीमित करना भी बहुत जरूरी है।
8. झूम कृषि पर नियंत्रण स्थापित करना होगा जिससे मृदा अपरदन को रोका जा सके वनों के काटने वालों को कठोर दण्ड देना होगा तथा वृक्षों की संख्या बढाने हेतु वृक्षारोपण कार्यक्रम को जारी रखना होगा ।
9. निर्धनता व बेरोजगारी के विरूद्ध बढते दुश्चक्र को कम करना होगा तथा पर्यावरण सुरक्षा हेतु मानव को और अधिक जाग्रत करना होगा ।
10. बढते नगरीकरण को रोकना होगा ताकि मानव स्वास्थ्य में सन्तुलन स्थापित हो सके।
11. जनसंख्या की वृद्धि दर को कम करना होगा ताकि प्राकृतिक संसाधनों का दोहन कम हो सके।
12. उन्नत प्रौद्योगिकी विकास होने पर विकसित देशों को वाध्यता प्रदान करनी होगी कि वह उन्नत प्रौद्योगिकी को अन्य देशों को शीघ्र ट्रान्सफर करें।

अन्त में हम कह सकते हैं कि भविष्य में हम एशियाई धुंध के नीचे रहें, गैस चैम्बरों के सदस्य बने या पर्यावरण से सुरक्षा हेतु एक विशेष प्रकार के वैज्ञानिक कोट को पहने या डाक्टरों की सलाह पर रंगे–बिरंगी गोलियों का सेवन प्रतिदिन करें। इससे अच्छा है कि हम अभी से आत्मिक रूप में सचेत हो जाये, अन्यथा चिन्तन–मंथन और विश्व स्तर पर राजनीतिक संवाद का कोई फायदा नहीं होगा और पर्यावरण का ह्रास बढता जायेगा।

<u>संदर्भ सूची</u>

1. Herskovits, MJ. "Man and this work"
2. Botkin, D.B. & Keller, E.A.: Environmental Studies, A Bell & Howell Company, London.
3. Fitting A : Tasks & Aims of Comparative Physiology on a Geographical Basis, 1922
4. Park C.C. Ecology & Environmental Management Butterworths London.
5. Goudie, A : The Nathure of the Environment Basil Black well Publisher Ltd.

बीड़ी उद्योग के श्रमिकों की कार्यप्रणाली की दिशा और दशा का समाज में प्रभावः अधिनियमों के परिप्रेक्ष्य में

जुगुल किशोर सिंह
शोधार्थी
महात्मा गांधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय, चित्रकूट, सतना (म.प्र.)

सारांश– बीड़ी श्रमिक अक्सर समाज के सबसे कमजोर क्षेत्र होते हैं और उनमें से एक बड़ी संख्या ग्रामीण भारत में बीड़ी बनाने पर पूरी तरह से निर्भर है। वे कम वेतन, ठेकेदारों द्वारा निरंतर शोषण, शिक्षा और चिकित्सा सुविधाओं की कमी और सरकारी नीतियों में उपेक्षा के बावजूद जीवित रहने के लिए संघर्ष कर रहे हैं। भारत में, अधिकांश बीड़ी श्रमिक महिलाएं हैं जो अपने घरों से काम करती हैं और बाकी औद्योगिक कार्यबल से अलग–थलग हैं और इस कारण वे सकल शोषण का आसान लक्ष्य हैं। महिला श्रमिक कई व्यावसायिक स्वास्थ्य समस्याओं से पीड़ित होती हैं।

मुख्य शब्दः बीड़ी उद्योग, सामाजिक–आर्थिक स्थिति, स्वास्थ्य संबंधी खतरे, कुटीर उद्योग, एसएचजी, महिला श्रमिक।

परिचय

एक बीड़ी एक पत्ती लुढ़का हुआ सिगरेट (जिसे गरीब पुरुषों की सिगरेट भी कहा जाता है) मोटे कच्चे तम्बाकू से बना होता है, जो एक छोर पर एक तार से बंधा होता है। चूंकि यह तम्बाकू सेवन का एक सस्ता रूप है, इसलिए यह भारत और उसके पड़ोसी देशों के निचले आर्थिक समूहों और ग्रामीण आबादी के बीच बेहद लोकप्रिय है। भारत में प्रत्येक वर्ष लगभग 800 मिलियन बीड़ी बेची जाती है, जो 8 से 1 के अनुपात में अधिक बिकती है। लेकिन यह अधिक स्वास्थ्य जोखिम वहन करती है क्योंकि यह अधिक निकोटीन, कार्बन मोनोऑक्साइड और टार भी प्रदान करती है। बीड़ी उद्योग एक महत्वपूर्ण कुटीर उद्योग है और ग्रामीण भारत के कृषि मजदूरों को आजीविका का सहायक स्रोत प्रदान करता है। भारत में महिला बीड़ी श्रमिकों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति के उत्थान में भी इस उद्योग की महत्वपूर्ण भूमिका है। यह उद्योग शायद देश भर में फैले असंगठित क्षेत्रों में सबसे बड़ा है, जो अविश्वसनीय रूप से विशाल सेना को रोजगार देता है। पुरुष, महिलाएं और बच्चे सभी लोगों को बीड़ी उद्योग रोजगार देता है, जिनमें से अधिकांश ऐसे हालात में काम करते हैं जो उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं।

भारत में बीड़ी उद्योग की उत्पत्ति

भारत में बीड़ी–रोलिंग उद्योग कब और कैसे शुरू हुआ, इसकी कोई निश्चित जानकारी नहीं है। प्राचीन भारत के आदिवासी लोग पेड़ों की पत्तियों से बने पाइप में तम्बाकू का धूम्रपान करते थे और धीरे–धीरे तम्बाकू को एक पत्ते में लपेटने की प्रथा (जिसे अब बीड़ी कहा जाता है) का जन्म हुआ। कहा जाता है कि तम्बाकू की खेती आंध्र प्रदेश में कृष्णदेव राय के काल में की जाती थी। सत्रहवीं शताब्दी ईस्वी के औपनिवेशिक काल में, भारत में तम्बाकू का उत्पादन और उपभोग या तो अंग्रेजों द्वारा या पुर्तगालियों द्वारा शुरू किया गया था।

तम्बाकू की खेती 17वीं शताब्दी से शुरू होती है जब इसकी शुरुआत गुजरात में हुई थी। हुक्का धूम्रपान की शुरुआत के बाद, बीड़ी को इस राज्य के खेड़ा और पंचमहल जिले में विकसित किया गया। कुछ समय बाद, इस क्षेत्र के कुछ बीड़ी रोलर्स मुंबई में बस गए और धीरे–धीरे बीड़ी देश के कई हिस्सों में फैल गई। 1899 के भयंकर सूखे के दौरान, गुजरात में, बीड़ी रोलर्स के कई परिवारों को मध्य प्रदेश में पलायन करने के लिए मजबूर किया गया था और बीड़ी एक लघु उद्योग के रूप में बन गई थी। आधुनिक बीड़ी और उद्योग के जनक अहमदाबाद के गोमतीपुर जिले के मोहनलाल पटेल हैं, जो

गुजरात से जबलपुर आ गए। मोहनलाल और हरगोबिंदा दास ने 1902 में अपना ब्रांड ट्रेडमार्क प्राप्त किया। 1912 से 1918 के बीच रेलवे नेटवर्क के तेजी से विस्तार के लिए, बीड़ी को देश के सभी हिस्सों जैसे विदर्भ, तेलंगाना, हैदराबाद, मैंगलोर और मद्रास क्षेत्र में भी फैलाया गया। सरकार के अनुसार। 1947 में मद्रास का, मध्य प्रदेश में 1887 की शुरुआत में सबसे पुराना बीड़ी निर्माण फार्म स्थापित किया गया था।

अध्ययन का उद्देश्य

1. चूँकि महिलाएँ और बाल श्रमिक प्रमुख श्रम शक्ति हैं, अध्ययन का उद्देश्य ग्रामीण विकास में उनके योगदान का मूल्यांकन करना है।
2. कुटीर उद्योग के रूप में बीड़ी उद्योग के वर्तमान परिदृश्य और ग्रामीण भारत के बीड़ी–श्रमिकों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति का मूल्यांकन करना।
3. विभिन्न भागों में बीड़ी उद्योग के विकास और वितरण का विश्लेषण करना।
4. बीड़ी उद्योग में सहकारिता एवं स्वयं सहायता समूह (SHG) के गठन की सम्भावनाओं का पता लगाना।
5. बीड़ी श्रमिकों की वर्तमान समस्याओं का पता लगाना और यह पता लगाना कि क्या सहकारी रोलिंग लाभदायक हो सकती है और साथ ही प्रणाली में कम शोषणकारी हो सकती है।
6. इन समस्याओं के उपचारात्मक उपायों का प्रस्ताव करना और इस समस्या से संभावित समाधान का सुझाव देना जो आर्थिक विकास के साथ बेहतर जीवन के अवसरों के लिए उनकी मदद कर सकता है।

वैश्वीकरण और बीड़ी मजदूर

कई अध्ययन इस तथ्य की ओर इशारा करते हैं कि बड़ी संख्या में महिलाएं अनौपचारिक क्षेत्र के श्रमिकों के रूप में श्रम बल में प्रवेश कर रही हैं। जैसे–जैसे अधिक से अधिक पुरुष अपनी नौकरी खो रहे हैं और स्थिर आय के नुकसान के साथ आकस्मिक काम में धकेल दिए जाते हैं, महिलाएं आय के न्यूनतम मानक को बनाए रखने के लिए आय के वैकल्पिक रास्ते तलाशने लगती हैं। आय पर्याप्त नहीं होने के कारण बड़ी संख्या में लड़कियां भी इसमें खींची जाती हैं। बालिका श्रम को व्यापक सामाजिक मैट्रिक्स और व्यापक सामाजिक और वैश्विक प्रक्रिया के परस्पर संबंध में समझा जाना चाहिए। पुरुष रोजगार में उल्लेखनीय गिरावट के साथ–साथ महिला रोजगार की दर में वृद्धि हुई। यह पारिवारिक अर्थव्यवस्था के रखरखाव के लिए आवश्यक था। औपचारिक रोजगार से अनौपचारिक रोजगार और सार्वजनिक से निजी क्षेत्र की ओर कदम रोजगार के नारीकरण का पक्षधर है। संरचनात्मक समायोजन नीतियां वास्तविक मजदूरी में गिरावट, बेरोजगारी और उपलब्धता को कम करती हैं और बुनियादी वस्तुओं और सेवाओं की सब्सिडी में कटौती करती हैं। यह महिलाओं को बहुत अधिक प्रभावित करता है और निर्माता, माताओं, घरेलू प्रबंधकों, सामुदायिक आयोजकों के रूप में उनकी भूमिकाओं के संदर्भ में इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यह उनकी आय को कम करता है उनके जीवन स्तर को कम करता है और अवैतनिक कार्यों का अधिक बोझ होता है। ऐसी स्थिति में बाल श्रम एक जीवित रहने की रणनीति बन जाती है। बेरोजगार और बेरोजगार आजीविका के बिना रहने का जोखिम नहीं उठा सकते हैं। वे दिन–प्रतिदिन के आधार पर जीवित रहते हैं और प्रतिफल की मात्रा पर ध्यान दिए बिना उन्हें आकस्मिक काम या दिहाड़ी मजदूरी करनी पड़ती है। असंगठित क्षेत्रों में बड़ी संख्या में महिलाएं लगातार बेरोजगारी से पीड़ित हैं और ज्यादातर बेहद गरीबी में रहती हैं।

भारत में महिलाएं बड़ी संख्या में असंगठित क्षेत्रों में काम करती हैं। ये कार्य शहरी और ग्रामीण दोनों क्षेत्रों में किए जाते हैं। इन गतिविधियों को प्रवेश में आसानी, स्वदेशी स्रोतों पर निर्भरता, उद्यमों के परिवार के स्वामित्व, संचालन के छोटे पैमाने, श्रम गहन और अनुकूलित प्रौद्योगिकी, औपचारिक स्कूल प्रणाली के बाहर अर्जित कौशल, और अनियमित और प्रतिस्पर्धी बाजार की विशेषता है। भारतीय समाज के भीतर पितृसत्ता का वैचारिक निर्माण एक पदानुक्रमित संरचना में महिलाओं की अधीनता के लिए स्थितियां पैदा करता है। इसलिए, इस क्षेत्र में घरेलू उत्पादन के श्रमिकों को शामिल किया जाएगा जो सीधे स्वयं के खाता प्रणाली के तहत या किसी प्रकार के पुटिंग आउट सिस्टम के तहत काम कर रहे हों। इसमें छोटी कार्यशालाओं और कारखानों के साथ–साथ ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में छोटे व्यवसायों

और अन्य सभी प्रकार के आकस्मिक श्रम में लगी महिलाओं को भी शामिल किया जाएगा। हालांकि जाति, वर्ग या आर्थिक गतिविधि के मामले में एक सजातीय समूह नहीं है, असंगठित क्षेत्रों में सभी श्रमिकों के लिए अभाव और भेदभाव आम है। वे काम करने के अवसर की कमी, कम और भेदभावपूर्ण मजदूरी और शोषणकारी स्थितियों से पीड़ित हैं, जिसके परिणामस्वरूप कैजुअलाइजेशन होता है। उनके पास सामाजिक सुरक्षा का अभाव है, व्यावसायिक स्वास्थ्य खतरों का सामना करते हैं, और नई तकनीकों, कौशल और ज्ञान तक उनकी पहुंच नहीं है। इन महिलाओं में से जो घर पर काम करती हैं, उनके पास लंबे और अनियमित काम के घंटे, कार्यबल का विखंडन और परमाणुकरण और किसी भी प्रकार के श्रमिक संगठन का अभाव है। इस काम में से अधिकांश को कम आंका जाता है और सहायक गतिविधियों के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, क्योंकि महिलाएं इस काम को अपने अवैतनिक घरेलू कार्य के साथ करती हैं। घर आधारित टुकड़ा दर प्रणाली से नियोक्ताओं को जबरदस्त लाभ मिलता है क्योंकि कोई ओवरहेड लागत नहीं होती है या उपकरण या मशीनरी में निवेश करने की आवश्यकता नहीं होती है, कोई ट्रेड यूनियनों के साथ संघर्ष नहीं करना पड़ता है। इस क्षेत्र में अक्सर कानून का भी अभाव होता है और किसी भी कर्मचारी को कोई सामाजिक सुरक्षा लाभ नहीं मिलता है। यहां मजदूरी इतनी कम है कि परिवार के प्रत्येक सदस्य को उत्पादन के किसी न किसी पहलू में सहायता करने के लिए कहा जाता है, जिसके परिणामस्वरूप कई घरेलू उद्योगों में बड़े पैमाने पर बाल श्रम होता है।

बीड़ी कामगारों में श्रमिकों की कार्यप्रणाली और स्थिति

बीड़ी रोलिंग की प्रकृति और प्रक्रियाः बीड़ी निर्माण में कई अंतर–संबंधित चरण शामिल हैं। सबसे पहले, भारत के विभिन्न राज्यों के वन–आधारित स्थानीय लोगों द्वारा तेंदू पत्ते एकत्र किए गए हैं और फिर नीलामी के बाद इसे बीड़ी–मजदूर केंद्रित राज्यों के थोक ठेकेदारों को बेच दिया गया है। इसके बाद नियोक्ता ठेकेदार नामक बिचौलिए के माध्यम से मजदूरों को तेंदू पत्ते, तंबाकू, सूत और धागे की आपूर्ति करते हैं। बीड़ी के उत्पादन में शामिल चार मुख्य चरण धागे को रिवाइंड करना, बीड़ी के पत्तों को एक विशिष्ट आकार और आकार में काटना और आवश्यक मात्रा में तम्बाकू से भरना, बीड़ी को रोल करना और बीड़ी–सिर को मोड़ना हैं। फिर आम तौर पर 25 बीड़ी की डंडियों की पोटली बना कर तंदूर में पकाने के लिए रख देते हैं. अंत में, बंडलों को ठेकेदारों को आपूर्ति की जाती है, जो फिर ब्रांडेड होते हैं और बाजार में बेचे जाते हैं।

भारत में बीड़ी श्रमिकः बीड़ी आमतौर पर भारतीय है और पड़ोसी देशों में भी धूम्रपान किया जाता है। अब तक, बीड़ी का सबसे बड़ा उत्पादक भारत में है, जो विश्व के कुल उत्पादन का लगभग 85 प्रतिशत है। बीड़ी उद्योग का स्थान काफी हद तक सस्ते श्रम की उपस्थिति और बीड़ी रोलिंग में उपयोग किए जाने वाले तेंदू पत्तों की उपलब्धता द्वारा निर्धारित किया जाता है।

बीड़ी रोलिंग भारत में प्रमुख अनौपचारिक क्षेत्र की गतिविधियों में से एक है। भारत सरकार का अनुमान है कि, भारत में लगभग 4.4 मिलियन पूर्णकालिक कर्मचारी हैं और अन्य 4 मिलियन लोग बीड़ी उद्योग से संबंधित काम में लगे हुए हैं। यह भी एक उल्लेखनीय तथ्य है कि उनमें से अधिकांश लोग हैं। घरेलू महिला श्रमिक (लगभग 70%), जो गरीबी रेखा के नीचे रहती हैं। इसलिए, रहने और काम करने की स्थिति में सुधार करने के साथ–साथ महिला बीड़ी रोलर्स के लिए अच्छे रोजगार और आय के अवसरों को बढ़ावा देने की आवश्यकता है। हमारे देश में सबसे अधिक महिला बीड़ी श्रमिक निरक्षर हैं और ज्यादातर मामलों में असंगठित और ज्यादातर मामलों में वे अत्यधिक दयनीय हैं। अन्य विकल्पों के रोजगार के अवसरों की कमी के कारण, ग्रामीण भारत की बड़ी संख्या में महिला लोगों को यह खतरनाक काम करने के लिए मजबूर होना पड़ा है। पेशा।

स्वास्थ्य समस्याओं के लिए उपचारात्मक उपाय

बीड़ी श्रमिकों, जिनमें काफी संख्या में महिलाएं हैं, के साथ बंधुआ मजदूरों जैसा व्यवहार किया जाता है। प्रतिदिन 10 से 12 घंटे के बीच कहीं भी काम करते हैं। वे दयनीय परिस्थितियों में रहते हैं और उनका बहुत अधिक शोषण किया जाता है। इसलिए इन स्थितियों में महिला बीड़ी कामगारों के लिए कल्याणकारी योजनाओं की आवश्यकता होनी चाहिए जैसेः

- बीड़ी श्रमिकों के बीच उचित स्वास्थ्य शिक्षा और जागरूकता प्रदान करना।

- स्वास्थ्य औषधालयों को बीड़ी श्रमिक बहुल ब्लॉकों में स्थापित किया जाना चाहिए।
- LWO के औषधालयों में पर्याप्त दवाओं का स्टॉक होना चाहिए।
- स्थिर–सह मोबाइल/स्थैतिक एलोपैथिक और आयुर्वेदिक औषधालयों की आवश्यकता है।
- टीबी अस्पतालों में बिस्तरों के आरक्षण की योजना।
- टीबी, कैंसर, मानसिक रोग आदि से पीड़ित बीड़ी श्रमिकों के घरेलू उपचार की योजना।
- चश्मा खरीदने के लिए महिला बीड़ी श्रमिकों को वित्तीय सहायता प्रदान करना।
- हृदय रोग, गुर्दा प्रत्यारोपण के संबंध में महिला श्रमिकों को वित्तीय सहायता के रूप में व्यय की प्रतिपूर्ति।
- सभी औषधालयों में पर्याप्त संख्या में महिला चिकित्सकों की नियुक्ति की जाए।
- असंगठित घर आधारित बीड़ी महिलाओं को स्व–समूहों, सामुदायिक संगठन औरध्या उनके सदस्यता आधारित संगठन (जैसे केरल दिनेश बीड़ी सहकारी–केडीबीसी) के तहत संगठित करने में सक्षम बनाना।
- रोजगार के अवसरों के बारे में महिलाओं की जागरूकता में सुधार और उनके संगठनों के माध्यम से आयोजित किए जाने वाले स्थानीय स्तर पर उद्यमशीलता विकास कार्यक्रमों और सहभागी त्वरित मूल्यांकन अभ्यास के माध्यम से व्यावसायिक विकल्पों को व्यापक बनाना।
- ऋण की सुविधाओं के संबंध में, राज्यों की नीति को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता है कि बैंकों को कठोर संपार्श्विक आवश्यकताओं के बिना महिलाओं को सूक्ष्म ऋण (पश्चिम बंगाल में बंधन सूक्ष्म वित्त) प्रदान करने के लिए अलग से धन निर्धारित करने की आवश्यकता है।

महिला बीड़ी श्रमिकों द्वारा बताए गए लक्षण

लक्षण समूह	लक्षण बताया
बीड़ी के काम से संबंधित दर्द	पीठ दर्द, गर्दन दर्द, सिर दर्द, आंखों में जलन, पैरों में दर्द, उंगलियों का सुन्न होना
खांसी	तंबाकू के लिए एक्सपोजर
चक्कर	चक्कर आना, सांस फूलना
पेट संबंधित दर्द	पेट में दर्द, ऐंठन, गैस, स्पस्मोडिक दर्द से दस्त होता है
अन्य	बवासीर, धड़कन, घरघराहट, बुखार, चिंता, जोड़ों में दर्द और सूजन

समस्याएं

बीड़ी निर्माण कारखानों में काम करने वाले बाल मजदूरों को कई स्वास्थ्य और सामाजिक–आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है जैसे कि खराब वित्तीय स्थिति, अशिक्षा, अपर्याप्त पौष्टिक भोजन, माता–पिता की अयोग्यता आदि। पिछले कुछ अध्ययनों के माध्यम से देखा गया है कि, बच्चों की सामाजिक–आर्थिक और स्वास्थ्य स्थितियों बाल मजदूर बहुत बुरे हैं। बीड़ी बनाने की गतिविधि से बाल श्रमिकों को कई स्वास्थ्य समस्याएं होती हैं। शोधकर्ता बाल मजदूरों के स्वास्थ्य, सामाजिक–आर्थिक और कामकाजी परिस्थितियों के बारे में जानने के इच्छुक हैं। वर्तमान अध्ययन गैर–सरकारी संगठनों के लिए सहायक होगा जो बीड़ी कारखानों जैसे असंगठित क्षेत्र में बाल श्रम से संबंधित विकास गतिविधियों में लगे हुए हैं। बीड़ी बनाने के काम में लगे बाल मजदूर गरीबी रेखा से नीचे हैं, और इस प्रकार रहने की स्थिति और अच्छी शिक्षा में सुधार करना महत्वपूर्ण है। सोलापुर शहर में बाल बीड़ी रोलर्स के बारे में गुणात्मक और मात्रात्मक जानकारी एकत्र करना भी महत्वपूर्ण है, जहां बाल श्रम से संबंधित वर्तमान

भारतीय कानून में मौजूद कई खामियों और घरों की प्रधानता के कारण बाल श्रम का रोजगार व्यापक और छिपा हुआ है। बीड़ी रोलिंग व्यवसाय।

समाज पर प्रभाव

ग्रामीण श्रमिक देश के प्राचीनतम वंशजों में से एक हैं जिनके जीवन और संस्कृति की सबसे प्रमुख विशेषता है– आर्थिक और सामाजिक पिछड़ा पन, धार्मिक अंधविश्वास, जीवन की सरलता और आनंद, स्वतंत्र, निर्भयता, विशेष रीति–रिवाज एवं रहन–सहन की पद्धतियाँ एवं विभिन्नता के आयाम अपने में समेटे हुए हैं। बीड़ी श्रमिक 'विशेष पिछड़ी' जाति के लोग हैं। जिसकी अपनी अलग संस्कृति, रीति–रिवाज, विश्वास, मूल्य, आदि हैं। श्रमिक सदियों से पिछड़े पन के कारण राष्ट्र की सामान्य जीवन धारा से अलग पड़कर प्रगति की दौड़ में ये पिछड़ गऐ हैं। ग्राम, कस्बों, शहरों, पहाड़ों, वन स्थलों, दुर्गम क्षेत्रों में निवास के कारण श्रमिकतक सहायता का प्रकाश पूर्णतः नही पड़ पाया है। वर्तमान में बीड़ी श्रमिक संक्रमण काल की अवस्था है।

सांस्कृतिक, आर्थिक, शिक्षा–स्वास्थ्य आदि की समस्याएँ प्रमुख हैं जो कि बीड़ी श्रमिक के विकास में बाधक हैं। बीड़ी समुदाय की सामाजिक स्थिति कम से कम अस्पृश्यता के मामले में तो वैसी ही है, जैसी कि पूर्व में राजतंत्र अर्थात् राजा–महाराजाओं के समय में थी। इसमें सबसे क्रांन्तिकारी परिवर्तन उस समय आया जब देश में अंग्रेजों ने अपनी संप्रभुता कायम की। यह बात कड़वी लेकिन सच है कि उस समय पहली बार किसी भी रूप में कम से कम न्याय का एक रूप तो बीड़ी श्रमिकों को देखने को मिला।

बीड़ी समुदाय अस्पृश्य बीड़ी श्रमिकों को लगा कि उनकी स्थिति में तेजी से सुधार होगा लेकिन ऐसा हो नही सका। आजादी के बाद एक बार फिर देश की बागडोर लोकतंत्र के बहाने पुराने राजाओं और धनिकों के हाथों में आ गई। इसलिए जो सुधार बीड़ी श्रमिकों की स्थिति में होने चाहिए थे, वह हो नहीं सके। उनकी शिक्षा में कुछ हद तक सुधार हुआ, लेकिन अन्य समाजों के साथ उनके संबंधों में कहीं भी सुधार देखने को नहीं और पैरों से शुद्रों का जन्म माना गया है। हिन्दू समाज में जो स्थिति बीड़ी श्रमिकों की रही है वही स्थिति अन्य श्रमिकों की है। आजादी से पहले बीड़ी श्रमिक बिरादरी के लोग पूर्णतः खेती का कार्य करते थे। जो आज भी इस समुदाय के लोग वही कार्य करते हैं।

आजादी के पूर्व बीड़ी श्रमिक के लोगों के संबंध उच्च वर्गीय हिन्दू व मुस्लिम समुदाय से नहीं थे। विद्यालयों में इनके बच्चों को प्रवेश नहीं मिलता था। इन्हें समाज में अन्य जगह उठने–बैठने का अधिकार नहीं था। बीड़ी श्रमिकों की महिलाओं के स्पर्श से स्वर्ण महिलाएँ खुद को अपवित्र मानती थीं। बीड़ी श्रमिक समुदाय पर आज भी इस प्रकार के अनेक प्रतिबंध हैं। इस वर्ग की महिलाएँ सार्वजनिक रूप से भाषण नहीं कर सकतीं, उच्च वर्ग के युवा कभी भी उनका अपमान कर सकते हैं, लेकिन इसका विरोध करने पर न केवल उनका अपमान किया जाता है, बल्कि हत्या तक कर दी जाती है। आजादी से पूर्व बीड़ी श्रमिक बिरादरी के लोग मुफ्त में प्राप्त बंजर जमीन पर झोपड़ी बनाकर रहते थे। इनकी अपनी एक बस्ती होती थी, जो गाँव व शहर से दूर या नजदीक होती थी। बीड़ी श्रमिकों या कामगारों के निवास का क्षेत्र बीड़ी मोहल्ला या बीड़ियों की बस्ती कहा जाता है।

निष्कर्ष –

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि बीड़ी उद्योग से सरकार को हर वर्ष लाखों रुपये का राजस्व मिलता है। लेकिन इस धंधे से जुड़े श्रमिक आर्थिक तंगी, बीमारी, लाचारी के बीच घुट–घुटकर जीने को मजबूर हैं। यहाँ के बीड़ी मजदूरों को सरकारी योजनाओं का लाभ भी नहीं मिल रहा है। अधिकांश अल्पसंख्यक वर्ग के लोग रीवा के अन्य जिले की तरह जवा के बीड़ी श्रमिकों को भी यह रोजगार विरासत में मिला है। इस पेशे से ज्यादातर अल्पसंख्यक वर्ग के लोग जुड़े हैं। जिला मुख्यालय के पूर्वी हिस्से में बसे अल्पसंख्यक वर्ग के घर–घर में बीड़ी बनाने का काम होता है। इन श्रमिकों के दम पर बीड़ी उद्योग का बाजार तो गुलजार हो रहा है, लेकिनखुद इनकी जिंदगी बोझ बनती जा रही है। लंबे समय से बीड़ी बनाने के काम मे लगे ज्यादातर श्रमिक कई तरह की बीमारियों की चपेट में है। कमर दर्द, हाथ पैर के जोड़ों में जकड़न, गर्दन में दर्द व पाचन तंत्र की शिकायत श्रमिक में आम है। बहुत सारे श्रमिक आँखों

से कम दिखाई देने व बहरापन की भी शिकायत करते हैं। आसपास के जानकार बताते हैं कि तंबाकू में निकोटिन कोलतार व कार्बन मोनोआक्साइड की मात्रा होती है। यह रक्त को दूषित कर देता है।

संदर्भ

- बघेल, डॉ. डी. एस., समकालीन भारतीय समाज और संस्कृति, नवीन प्रकाशन, पृ.सं. 46।
- मुकर्जी श्यामाचरण, परिवार और समाज, राधाकमल प्रकाशन इन्दौर, पृ.सं.38।
- सिन्हा, डॉ. व्ही. सी., औद्योगिक अर्थशास्त्र, पृ. सं. 37।
- सिन्हा, डॉ. व्ही. सी., औद्योगिक अर्थशास्त्र, पृ. सं. 43।
- पंचमुखी, पी. आर. एवं अन्निगेरी बी.बी. (2000), तम्बाकू से स्थानान्तरण के अर्थशास्त्र, आई. डी. आर. सीकनाडा।
- द्वारा प्रायोजित अध्ययन के अप्रकाशित रिपोर्ट।
- पाण्डेय, आनन्द कुमार, 2014 मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, पृ.सं. 395।
- पाण्डेय, आनन्द कुमार, 2014 मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी भोपाल, पृ.सं. 395।
- श्रीवास्तव, ए., (2000) भूमिका और वैश्विक तम्बाकू में मीडिया की जिम्मेदारी नियंत्रण पर विश्व स्वास्थ्य।
- संगठन द्वारा कमीशन पेपर वैश्विक तम्बाकू पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, जनवरी 2007–09, नई दिल्ली भारत।
- अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (2001), इण्डिया टूडे में बीड़ी मजदूरों का एक अध्ययन।
- अग्रवाल, ए. एच. भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ.सं. 39–40।
- अग्रवाल, ए. एच. भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ.सं. 530–32।
- अग्रवाल, ए. एच. भारतीय अर्थव्यवस्था, पृ.सं. 556–57।
- गुप्ता, पी.सी.सी. एवं लालकृष्ण एस. (2004), भारत में तम्बाकू नियंत्रण पर सम्पादकों की रिपोर्ट। नई दिल्ली।
- स्वास्थ्य ओर परिवार कल्याण मंत्रालय, भारत सरकार।
- गुप्ता, आर. सी. उद्योग का संगठन एवं प्रबंध, 1980–81, पृ.सं. 29।
- गुप्ता, आर. सी. उद्योग का संगठन एवं प्रबंध, 1980–81, पृ.सं. 62।
- गुप्ता, आर. सी. उद्योग का संगठन एवं प्रबंध, 1980–81, पृ.सं. 66–67।

Contradictions of Self-Determination, Demands for a Plebiscite and Secession in Jammu & Kashmir

Pritam Kumar
Assistant Professor
Department of Defence Strategic Studies
Shri Varshney College, Aligarh

Since the beginning of Pakistan's low intensity proxy war in the state of Jammu & Kashmir in 1989, terrorist violence has a taken a toll of over 20,000 innocent lives. More than 300,000 Hindu and Sikh minorities from Kashmir Valley and from the border areas have been displaced. Terror and intimidation have wrecked the peace for civilian life in the state and cross border terrorism continues to take a daily toll of innocent lives. Recently, Pakistan used the Kargil invasion to sneak in a large number of armed mercenaries into the state, who ratcheted up the violence one more notch, gravely hampering people's participation in the recent Lok Sabha elections.

The turmoil caused in Jammu & Kashmir (J&K) by this terroristviolence has given Pakistan and many of the secessionist groups in the state an excuse to demand a plebiscite in Jammu & Kashmir as envisaged in the United Nations Commission for India and Pakistan (UNCIP) resolutions of August 13, 1948 and January 5, 1949. It is never mentioned by the present advocates of a plebiscite that it was Pakistan which stonewalled the implementation of a plebiscite under UNCIP resolutions and that the 1972 SimlaAgreement between India and Pakistan superseded all other agreements between the two countries including the UNCIP resolutions.

Yet the issue of a plebiscite, given much currency by Pakistan and by theimperialist powers, continues to haunt many well-meaning Indians who feel that India stands on morally weak ground by insisting on the Simla Agreement and rejecting a referendum. The demand for a plebiscite in J&K is highly misunderstood. There is a myth that the demand for a plebiscite reflects the aspirations of all (or a sizable majority) of the state's population, and is the only way for the people of J&K to articulate their right to self-determination. Although seemingly well-intentioned, those who see a plebiscite as a cure-all for the problems of the people of the state are in fact, ignorant of the historic and contemporary complexities surrounding this issue.

Jammu and Kashmir: A Multi-Ethnic State

Contrary to most reports in the media, Jammu & Kashmir (J&K) is not a state where only Kashmiri Muslims live. It is a multi-ethnic, multi-religious state with 64% Muslims, 33% Hindus, and 3% Buddhists, Sikhs, Christians and others. There are three distinct geographical regions - Ladakh (with 58% of the area, and 3% of the population), Jammu (26% area, 45% population) and Kashmir (16% area, 52% population: of which over 90 % of the region's minorities, i.e. 3% of the state's total population have been driven out). The primary languages of Ladakh are Ladakhi and Balti, of Jammu: Dogri, and of Kashmir: Kashmiri. In addition, Gujari, Pahari, Punjabi, Shina and various dialects and mixed languages are also spoken by different ethnic groups within the state.

Fifteen per cent of the state's Muslims live in the provinces of Jammu and Ladakh. They are non-Kashmiris, and' by and large, they stand behind J&K's association with India.[1] Of the state's 49% who reside in the Kashmir province, about 13% are Shia Muslims. Shia Muslims do not wish to have anything to do with Sunni-dominated Pakistan, knowing full well the fate that awaits them there.[2] This is especially true of the Shias of Kargil who know of the poverty and degradation experienced by their ethnic siblings in Baltistan, a part of Pakistan occupied Kashmir referred to as the "Northern Areas". 14% of the people in Kashmir province are the pastoral nomadic Gujar and Bakarwal people. They are strong supporters of association with India and have demonstrated this by organizing Militancy Mukhalif Morcha (Anti-Militancy Front) to assist the security forces in surveillance of terrorist activity. As far as non-Muslim groups are concerned there is no reason for them to even think about living outside multi-religious and secular India.[3]

The support for secession in Jammu & Kashmir is thus largely limited to the non-pastoral Sunni Muslim population of the Kashmir Valley who constitute 22% of the state's population, (or about 1.9 million people). This segment of the population dominates the politics of the state. The reason that many believe separatism to be a widespread sentiment in J&K is because this dominant section has succeeded in completely drowning out all other voices in the state, and has the ability to cripple the normal functioning of the society in Kashmir province; either by inaction or insufficient action against Pakistani infiltration and terror or, worst still, by sabotage. It is this section of the state's population that receives all the attention, understandably so from Pakistan and the imperialist nations, but also from the Indian press.

Since the concept of self-determination must be applied to each of Jammu & Kashmir's unique population groups, there can be no equation of self-determination with secession. If, however, the undivided state (including the Pakistan occupied regions of Kashmir which Pakistan refers to as "Azad" Kashmir &"Northern Areas") were to have a referendum under truly neutral supervision, and the people were given three options - join India, join Pakistan or be independent--the results might be shocking to votaries of secession. The majority could very well go with India, because the separatists will split the vote between pro-Pakistan and pro-independence groups. Sayyed Ali Gilani, Jammu & Kashmir's Jamaat-e-Islami leader, opposes the option of independence precisely because he is afraid that this vote may split in India's favor.[4]

On the other hand, if the people of the state are given only two choices - join India or join Pakistan - the majority vote could still go in India's favor. Of the 12.8 million people in the undivided state,[5] J&K's population is 8.5 million, "Azad" Kashmir's is 2.8 million and "Northern Areas" is 1.5 million. If 1.9 million from J&K and all of "Azad" Kashmir and "Northern Areas" vote for Pakistan, it still gives India a vote of 6.6 million and leaves Pakistan with 6.2 million. Even if provision were made in this analysis for erosion of support for India as a result of the current turmoil, and some sprinkling of support for Pakistan from other Muslim groups in the state, the results of the referendum would be too close to call. In reality, the vote for Pakistan could be much less for the following two reasons: -

1- Since 1948, the Sunni populationof the Valley (22% of the state's population), has dominated the legislative, political and administrative structures in the state of J&K. Kashmir province receives more weightage in the Assembly elections than does Jammu province. Based on the size of its population Kashmir province should send 44 members to the Legislative Assembly but sends 46. Jammu province, on the other hand, should elect 39 but is allowed only 37. The government ministries and administrative bodies have also been dominated by Kashmiri speaking Valley Sunnis.

This grouping has also expropriated a disproportionate amount of resources for their own development needs. The bogey of a plebiscite and accession (in the garb ofself-determination) has been raised by this group, primarily to extract concessions from the Central Government in India. These have come in the form of grants, subsidiesand other forms of economic aid. This has enabled this group to maintain its political dominance and has seriously distorted the democratic process in the state.

However, if the Central Government in India were to call this bluff, the whole complexion of separatist politics in J&K may change, and if a plebiscite were actually to be conducted, support for Pakistan may drop way below this 1.9 million population base in J&K. The effectiveness of the demand for plebiscite and its propaganda valuelies precisely in its rejection by India. Were the tactical utility of such a demand to be lost, wiser elements amongst the separatists may abandon Pakistan and vote for India.

2- It is also likely that a significant percentage of the people of the "Northern Areas" could vote for India. The population in this region is very hostile to Pakistan because of the total neglect of this area. Literacy in the “Northern Areas” is 7% compared to J&K's 59%. Since 1947, there has been little improvement in the infrastructure - schools, hospitals, paved roads, electric power and piped drinking water - are practically non-existent. The inhabitants have no constitutional rights and are still ruled by the frontier laws inherited from the British times. There have also been reports of serf-like treatment of the poor peasants by some of the region's former monarchs. Since the population of the eastern part of “Northern Areas” is Balti speaking ShiaMuslim they could very well decide to join their siblings in Kargil area and vote for India.[6]

Considering all this, one might ask: Why doesn’t India accept a plebiscite? The fact is, it did, when, it naively it took its complaint of Pakistan’s aggression in J&K state to the UN, where an Anglo-American imperialist alliance turned India’s complaint into a dispute between Pakistan and India, thereby equating the aggressor with the aggrieved. India waited a long time for Pakistan to fulfill the pre-conditions of plebiscite as laid down in UNCIP resolutions . Instead of complying with the resolutions, Pakistan invaded Kashmir for a second time in 1965.

Kashmir’s accession to India in 1947: An act of Self-Determination

“Regardless of what Pakistan did or didn't do, the people of Kashmir did have a plebiscite of sorts in 1947. This was demonstrated when Kashmiris from varied backgrounds defiantly resisted the invasion of Pakistan and Pakistan-backed raiders in October of that year. The raiders sacked Muzaffarabad, and razed ·the towns of Baramulla and Rajouri, slaughtering thousands of civilians, all in a matter of days.”

Realizing that the Valley was going to be swallowed by these Pakistani marauders, the most popular political party, the National Conference took over the de facto administration , and organized a 10,000 men and women Kashmiri militia to stall the invasion and protect critical installations.Sheikh Mohammed Abdullah appealed to Mahatma Gandhi to send Indian troops to defend Kashmir. In the meanwhile, all civilian vehicles were requisitioned by the National Conference to be made available to the Indian army who had to be flown in by air. When the first Indian military convoy reached Srinagar by road in November 1947, the whole convoy route in Srinagar was lined with cheering crowds waving the Indian tricolor. The tricolor flew over almost all of Srinagar’s homes. That was an expression of Kashmiri self-determination.

When Sheikh Mohammed Abdullah, Bakshi Ghulam Mohammed, Ghulam Mohammed Sadiq, Maulana Sayeed Masoodi, the leaders of Kashmir's freedom struggle from the autocratic rule of Maharaja spoke of Pakistan as a feudal state and about imperialism's interest in Kashmir, when they publicly expressed their contempt for the two-nation theory, when they paid glowing tributes to Indian jawans (troops) for defending Kashmir, they echoed the sentiments of the majority of Kashmiris. That too was an expression of Kashmiri self-determination.

Equating today's terrorism with a "freedom struggle" is an insult to those leaders and their sacrifices. Today, Sheikh Abdullah's grave is protected by national security forces for fear that terrorists will remove the dead leader's body and desecrate it as threatened by them. Eight years ago, one of the first victims of terrorist bullets was the octogenarian Maulana Syed Masoodi, veteran freedom fighter of Kashmir. What is happening in Kashmir today is a low intensity war by Pakistan against India spearheaded by the ideology of two nation theory and Islamic fundamentalism. "Azadi" is a smokescreen under whose cover the "freedom fighters" actually religious zealots, with support from a theocratic Pakistan, wage war against secular India.

The fact is that in essence, Kashmir had a plebiscite in 1947, and its people voted for India. If India refuses to talk about a second plebiscite today, it has many valid concerns. Can a plebiscite be conducted in an atmosphere of violence and terror? In the last two months, newspapers in Srinagar, partial to secession, have been publishing death threats aimed at those who encourage, support or participate in Indian parliamentary elections. Unless there is an atmosphere of a free and fair debate in an environment of confidence and trust - no truly representative plebiscite is possible. Moreover, free and fair campaigning and fearless participation has to be guaranteed on both sides of the border. Pakistan with its history of muzzling the press, of military coups and arbitrary dismissals of elected governments is in simply no position to guarantee such fairness. Neither is the UN, with its highly partisan role in world affairs. Consider how the UN has been used as a pawn in every major imperialist undertaking, from Korea to Iraq and Yugoslavia.

The 1948-49 UNCIP resolutions pertaining to a plebiscite put explicit obligations on Pakistan which Pakistan has since failed to meet. Any acceptance of a new plebiscite would once again reward the very forces that have obstructed the first plebiscite.

Secession in the Age of Imperialism

As mentioned earlier, the right to self-determination cannot be equated to the right to secession in a multi-ethnic, multi-lingual and multi-religious society. Nevertheless, there are other compelling reasons to examine the idea of secession in era where imperialism is a powerful and potent force in the world.

First, Kashmir did exercise its right to self-determination in 1947, but since it was not in a 'format approved by the imperialist nations, there is a tendency to dismiss its validity. That encourages people like 33 year old Yasin Malik of Jammu & Kashmir Liberation Front (JKLF) in Kashmir to ask for a second referendum because he was born 19 years after the first .one took place, which he therefore conveniently trashes. If one were to accept Yasin Malik's contention that the 1947 accession of Kashmir to Indian was invalid, then the whole concept of self-determination would be trivialized. The right of self-determination would then be reduced to a voting exercise conducted in an atmosphere of terror, repeated every 25-years or so, to meet the demands of a new generation, at whose whim the boundaries of a country could be redefined. It is not difficult to imagine the chaos in the world if such a recipe were to be applied worldwide.

Secession in a Multi-ethnic, Multi-religious and Multi-lingual State

Second, what happens to minority sentiments under a plebiscite? If 51% of the populations of J&K decide to vote for a theocratic Pakistan or independent theocratic Kashmir, is it fair to the other 49% to be forced to join that state, in spite of feeling greatly threatened by that state? J&K's Hindus, Sikhs, Buddhists, Gujar and Bakarwal, and Shiapeople genuinely fear that they will be decimated in a Pakistani state - or a Taliban style independent state. Women fear they will lose the freedoms they have, and be forced to march backwards under a Taliban-style barbaric patriarchy. If a "majority" cannot live in a multi religious secular India, is it fair to ask a sizable minority to live under a theocracy?

If the majority vote went for independence or accession to Pakistan, what guarantee is there that the minority interests would be safeguarded? Although a few groups like the JKLF speak of secularism, their leadership and membership is almost exclusively made up of Sunni Muslims. No Hindus, Buddhists or Sikhs comprise their membership. Besides, the JKLF has had close ties to Pakistan's ISI - a close collaborator of the Taliban. This exposes the JKLF as opportunists of the first rank who mask their retrograde ideology in meaningless statements about secularism and freedom. One should not be duped by JKLF's slogan of "Azadi." One needs to be reminded that in the early 1990s, the slogan: *"Azadi Ka Matlab Kya? LaIllah A Illal Allah"*equated "Azadi" directly to Islamic rule. It should also be noted that advocates of "Azadi" have often attempted to rally their supporters behind pan-Islamic slogans that linked a future "Azad" Kashmir to such highly intolerant Islamic states as Saudi Arabia and Afghanistan. Regardless of what individual separatist leaders may say, there is a deep and unshakeable connection between the votaries of "Azadi" and Islamic fundamentalism.

Furthermore, the principle of self-determination must apply to all communities. Ifthe Muslim majority in Kashmir province has a right to secede from India and form a separate state, the same right of secession must be extended to the Hindu minority to secede from that new state. Ifthe Shias feel oppressed by the Sunnis, the same right must be extended to them too. The travesty of the demand by secessionists is that they want the freedom to secede, exclusively for themselves. They want freedom to deny others their freedom.

As a partial solution, some may suggest a region-wise plebiscite, but a look at the map of the undivided state will show how impractical that would be. The Kashmir valley separates the remote regions of Kargil and Ladakh to Jammu and the rest of India. The life-line for the mountains of Kargil and Ladakh winds through the Kashmir valley. To allow the Kashmir valley to secede would destroy the lives of the people of Ladakh and Kargil. And what is worse, it could leave the Kashmir region itself divided into a patchwork of geographically disconnected principalities. By losing their seasonal mobility which could threaten their livelihood, the nomadic Gujar and Bakarwal people would be particularly affected by any such partition of Kashmir.

Are Kashmiris Oppressed?

Thirdly, it should be noted that the demand for self-determination leading to secession has usually been advanced by an oppressed people. Are the Kashmiri people oppressed? In 1947, J&K was at the bottom of the economic ladder in India. In 1960-61 it ranked 11th among 16 states of India in per capita income; in 1971-72, 14th among 24 states. But with generous Central assistance it had improved its position by 1981-82 to number 7, surpassing

industrial West Bengal, A.P., Karnataka and Tamil Nadu.[7]

Most of the income increase had taken place in large urban areas such as around Srinagar where the Index of Social Development (which includes literacy, health care, access to other social services, etc.). is the highest of the 14 districts in the state.[8] Yet, separatist sentiment is the strongest in this region.

Kashmir vis-a-vis Pakistan

What is even more striking is how Indian Kashmir is better off than Pakistan. Kashmir’s literacy at 59% is much higher than Pakistan’s 44%. In general, India’s socialindices are many notches ahead of Pakistan's. Even if Kashmir's indicators were no better than the Indian average, it would be much better off with India than with Pakistan. Per capita calorie intake in India is now higher and infant mortality is lower. India has made greater strides in developing its infrastructure - whether it be railways, telecommunications or mass media. Indians are now more likely to have access to a telephone, color TV or cable TV connection. They are also less indebted to the international finance community. Per capita hard currency debt in Pakistan is more than double India's. India, being a secular state has given far more importance to scientific education and research. For example, in Pakistan, 4500 out of 5000 Ph.D. awarded after independence were in Islamic studies - i.e. less than 500 were in the sciences. In India, 40,000 out of 75,000 Ph.D. awarded were in the sciences, and only a fraction of the other 35,000 were in religious studies. This means that although India's population is about 6 times that of Pakistan's, it has produced more than 80 times as many Ph.D. in the sciences as has Pakistan.

All things considered, the people of Jammu and Kashmir have far more opportunities in India than they would, if they seceded and joined with Pakistan.

US goals and tactics

Fourthly, and most importantly: How does one factor in the role of imperialism? In spite of the seemingly “neutral” US role in the recent Kargil conflict, the U.S. is unlikely to give up Pakistan as its choice weapon against a large and “unmanageable” India unless, of course, the latter is balkanized into “manageable” segments. In addition, the U.S. has a special interest in J&K region. It is strategically placed in Asia from where events in the many neighboring states can be monitored, and when necessary, an intervention conveniently initiated, and carried out. For this reason, the US prefers an independent state of J&K over which it can exercise easy control. If political conditions do not allow independence, the US would like to keep India and Pakistan in a continuing state of simmering hostilities over the “Kashmir-problem”. Pakistani rulers danced to the tune of their British colonial masters prior to 1947 and since, to their imperialist masters have been more than happy to oblige. After all, India-baiting is the glue that Pakistan’s elite have used to keep Pakistan together.

Recent events indicate a possible “warming up” of relations between India and the U.S. It is important that India remain on guard and that it not be lulled into believing in the benevolence of imperialism. The US may adopt different tactics from time to time, but these should not be confused with being friendly towards India. It should be kept in mind that the US did not ask Pakistan to withdraw from Kargil until it had become clear that India had reversed Pakistan's military advantage. Reports had begun to surface of Pakistani soldiers being desperate to retreat, and Pakistani officers ordering them to hold on to their posts, or risk being shot at if they retreated. Pakistan desperately needed a cease-fire at that point. Prior to that, India was kept under constant pressure not to cross the LOC - and to negotiate with Pakistan. Soon after Kargil, the US adopted a diplomatically hostile position towards India re.

the downing of Pakistan's advanced spy plane after it had repeatedly encroached Indian territory and ignored prior warnings to desist.

It is also important to keep in mind US bullying of India on trade and economic matters. India has made several concessions in WTO but the US has not reciprocated in kind. Various economic and technological sanctions against India remain. None of this points to the US emerging as any genuine friend of the Indian nation.

Conclusion

In this unipolar world, fragmentation of third world countries (that are not allied with imperialism) only helps imperialism, more so now that the counter-veiling force of the SovietUnion is absent. Fragmented nations are far more likely to be more deeply indebted to foreign banks, to accept foreign military bases, vote with the US and its allies in the UN, and so on. They are also more likely to then suppress minorities within their borders, leading to new tensions and separatist tendencies.

Unlike Pakistan, a large secular and democratic country like India offers more opportunities for different communities to express dissent and gain influence. This is not to say that democracy in India is perfect, or free from all the problems that unequal distribution of wealth entails. However, considering that none of the separatists have a progressive (or more democratic) economic platform for J&K's people, the relative benefits of aligning with India assume significance.

Consider how India's current President hails from a historically oppressed community. Consider how Mayavati - a campaigner for the political aspirations of India's most downtrodden castes became the first woman to become the Chief Minister of India's most populous state. Consider how Mulayam Singh Yadav - a leader of India's oppressed peasant castes became Defence Minister in 1996.

Consider also, India's foreign policy. For most of its history, India has conducted a principled anti-imperialist foreign policy. Recently, it opposed the criminal bombing of Yugoslavia and it opposes the deathly sanctions on Iraq. Earlier, it had condemned the bombing of Sudan, and unlike Pakistan, it did not become a proxy for US imperialism in Afghanistan or anywhere else.

Pakistan, on the other hand, played a vicious role in destroying the democratic revolution in Afghanistan, and participated in the Gulf War and in the Balkans. So it is not surprising that in the case of Jammu & Kashmir, Pakistan should play a similar role. As imperialism's proxy in South Asia - Pakistan - has been injecting the poison of the two-nation theory ever since it was created. Those in Kashmir who are afflicted by this poison are in a minority and have been holding the majority of the state's people hostage. One could argue that if they feel so suffocated and oppressed by the democracy and secularism that India offers, they could simply cross the Line of Control (LoC) into Pakistan-controlled Azad Kashmir and enjoy the sort of theocracy and intolerance they wish to impose on an unwilling population in India. But instead, they malign secular India at every opportunity, even though it is their own acts of violence and terror that have caused 20,000 civilian deaths and created 300,000 displaced people in the State.

In conclusion, it must be reiterated that the plebiscite and secession demand comes from a politically dominant and a vocal minority of Kashmiris and needs to be exposed for what it is. The overwhelming majority of the people of Jammu & Kashmir - 70- 80% - want to be part of a secular and democratic India and they are the ones who need our unqualified support to help defeat separatism and Pakistan's proxy war in Kashmir.

References

1- There are a few small exceptions in some towns of Doda district.
2- Just recently, an Oct 4, Hindustan Times report cited Pakistan's ShooraWahdat-i-Islami who condemned what it called the genocide of Shias in Pakistan.
3- The breakup of the Muslim population in Kashmir province is based on the data in the article Ethnic Identities and political deadlock in Jammu & Kashmir, by Hari Om, in Indian Defense Review, 1997
4- Sayyed Ali Gilani, Rudad-i-Qafas Vol. l, p. 412, Srinagar: al-Huda Publishing House, 1993.
5- The combined population of "Azad" Kashmir and "Northern Areas" was about 25% of the total in 1947, it is 33% now, despite the fact that J&K 's population has itself grown at a high rate of 29% every decade since 1961. This unusually high increase in "Azad" Kashmir's and "Northern Areas" population is attributed to Pakistan's attempts to change the demographics of areas under its occupation, especially in "Northern Areas", with the settlement of Punjabis and NWFP Pathans in these areas. This settlement policy was actively pursued after the Shia revolt of 1988 was brutally crushed by the now Pakistan military Chief, General Parvez Musharraf.
On the other hand, it should be noted that non-residents of J&K are prevented under the J&K and Indian constitution from buying property in J&K This has prevented the Indian government from any attempts at changing the state's demographics
6- It should be noted that the people of Kargil and Ladakh are the most enthusiastic participants in Indian elections, and voter turnout at 70-80% has routinely exceeded the national average.
7- Statistical Year Book of India, 1983
8- Misri, M.L. & Bhat, M.S., Poverty, Planning and Economic Change in Jammu & Kashmir, Vikas Publishing House Pvt. Ltd., Delhi, 1994.

रवीन्द्र कालिया के उपन्यासों की संवेदना

रिपुंजय कुमार सिंह
शोध छात्र, हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

1. 'खुदा सही सलामत है'

हमारे समाज में महिलाएँ वर्षों से उपेक्षित रही हैं। कभी उसे कुलटा, वेश्या, चरित्रहीन कहा जाता है तो कभी नारी महाठगिनी। जबकि सच्चाई यह है कि समाज निर्माण में पुरुषों से ज्यादा महिलाओं का योगदान है। कभी माँ के रूप में तो कभी बहन, बेटी, पत्नी के रूप में। महिलाओं को वेश्या, कुलटा जैसे उपनाम पुरुषवादी समाज द्वारा ही दिया गया है। रवीन्द्र कालिया का 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास इन सभी सामाजिक कुरीतियों को बेपर्दा करता है। उपन्यास में तवाय़फ–सभा काशी की अध्यक्षा हुसनाबाई ने समाज निर्माण में वेश्याओं की भूमिका पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उनका राष्ट्र प्रेम सम्बन्धी विचार तथाकथित राष्ट्रप्रेमियों पर करारा चोट करता है ''इस वक्त देशवासियों का झुकाव राष्ट्रीय गीत की ओर है। इसलिए हमलोगों को भी राष्ट्रीय गानों को याद कर मुजरों तथा महफिलों में गाना चाहिए। इससे हमारी प्रशंसा होगी, रोजगार बढ़ेगा। हमलोगों को जो बहुत से लोग हिकारत की निगाह से देखने लग गए हैं, सो भी कम हो जाएगा और लोग इज्ज़त की निगाह से देखेंगे।''[1]

सामाजिक कुरीतियों से लड़ने के लिए समय–समय पर हमारे समाज में अनेक समाज सुधारक पैदा हुए। इन्हीं कारणों से हमारा समाज इन समाज सुधारकों का ऋणी है। सती प्रथा, बाल विवाह, विधवा विवाह, असमानता, मद्यपान निषेध जैसी कुरीतियों के खिलाफ अनेक सामाजिक संघर्ष हुए। अधिकांश पर सफलता प्राप्त हुई, लेकिन मद्यपान जैसी कुरीतियाँ आज भी अनेक घरों को बर्बाद कर रही हैं। समाज में ''शराबखोरी इतनी बढ़ गई है कि इसने अर्थ और धर्म दोनों को नाश कर दिया है। मैं दांवे के साथ कह सकती हूँ कि शराब पीना हिन्दू और मुसलमान दोनों ही कौमों के मज़हब के खिलाफ है। हमने कहीं लिखा देखा है कि यदि मुसलमानों के ज़िस्म के किसी हिस्से पर शराब का कतरा गिर पड़े तो उसे उस हिस्से को काटकर फेंक देना चाहिए। यदि वह सच्चा ईस्लाम धर्म मानने वाला है। ऐसा ही हिन्दुओं के यहाँ भी है। परन्तु बड़े शर्म की बात है कि हमलोग खुदग़र्जी के जाल में फँसकर अपने धर्म पर चोट पहुँचा रहे हैं। अतः हिन्दू हो या मुसलमान, उसे शराब को हराम समझकर उसका पीना शीघ्र ही बन्द कर देना चाहिए।''[2]

स्वतंत्रता आन्दोलन में स्वराज की कल्पना की गयी, जिससे अंग्रेजों को आर्थिक रूप से कमजोर किया जा सके एवं भारतीयों को आत्मनिर्भर। हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई सभी धर्मो के लोगों ने महात्मा गाँधी से प्रभावित होकर चरखे कातने तथा कपड़े बुनने जैसे स्वदेशी कार्य को अपनाया एवं अंग्रेजों की कमर तोड़ दी। तवायफ़–सभा काशी की अध्यक्षा हुसनाबाई इस तरफ उपन्यास में हमारा ध्यान आकर्षित करती हैं, ''हमारी बहुत सी बहनें गरीबी से कष्ट उठा रही हैं। उनके साथ हमलोगों को हमदर्दी करना चाहिए। उन्हें चरखे काटने तथा कपड़े बुनने की शिक्षा देनी चाहिए, जिससे उनकी गरीबी कटे और देश का भलाई हो। महात्मा गाँधी की आज्ञा से अब भारत ने स्वाधीनता और स्वराज्य की घोषणा कर दी। भारत को आजाद करने के लिए विलायती माल का व्यवहार बन्द करना जरूरी है। मैं आज से विलायती माल न खरीदने की प्रतिज्ञा करती हूँ और उम्मीद करती हूँ कि आप लोग भी आज से विलायती माल लेना बंद कर देंगी और अपने बच्चों से कह देंगी कि मरने पर हमारे पाक जनाज़े में नापाक विलायती कपड़ा मत लगाना।''[3]

भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन में महिलाओं का योगदान अविस्मरणीय रहा है। कदम–कदम पर महिलाओं ने पुरुषों का साथ दिया है। हमारा इतिहास गवाह है कि ''चित्तौड़ की रक्षा के लिए कितनी ही वीर बालाओं ने लड़ाई के मैदान में अपने प्राणों की आहुति दे दी, परन्तु अपने मुल्क को जीते जी गुलाम न होने दिया। संसार में स्त्रियों और पुरुषों का अधिकार बराबर है। भारत पर पुरुषों से ज्यादा हक स्त्रियों का है। यदि पुरुष आज़ादी के लिए लड़ रहे हैं तो हम भी उनके साथ प्राण देने को तैयार हैं। यदि वे जेल जा रहे हैं तो हम भी उनकी पूजा करने के लिए पहले से बैठी हैं।''[4]

हमारे समाज में सामाजिक सद्भाव, एकता, भाईचारा का नारा देकर गंगा–जमुनी तहजीब स्थापित करने वाले अनेक महापुरुष समय–समय पर अवतरित होते रहे हैं। फ़िरकापरस्त लोगों द्वारा इसे बिगाड़ने की कोशिश भी की जाती है। रवीन्द्र कालिया ने सामाजिक सद्भाव का जीवंत चित्रण 'खुदा सही सलामत है' में किया है ''गली के बीचोबीच एक बड़ा–सा अहाता था और अहाते के बीचोबीच नीम का एक पुराना पेड़। लगता है पेड़ के नीचे कभी एक कुआँ रहा होगा, जिसे भरकर उसके ऊपर एक चौतरा–सा बना दिया गया था। चौतरे का अपना सामाजिक महत्त्व था। ईद के मौके पर ईद–मिलन और होली के अवसर पर होली–मिलन के रंगारंग कार्यक्रम इसी चौतरे पर आयोजित किए जाते। दोनों ही त्योहारों पर रात–रात भर कव्वाली होती।''[5]

पुलिस प्रशासन का कर्त्तव्य आम जनता की रक्षा करना है। मगर जब रक्षक ही भक्षक बन जाय तो स्थितियाँ काफी विकराल हो जाती हैं। 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास पुलिसियां कुकृत्य को संजीदगी से चित्रित करता है। ''वह धीरे–धीरे वहीं जाकर खड़ी हो गयी, जहाँ बैठने के लिए उन्होंने इशारा किया। कोतवाल साहब ने सिर से पैर तक उसे देखा।

'तुम्हारी बाँहें बहुत खूबसूरत हैं।' उन्होंने गुलाबदेई की बाँह पर हाथ फेरा और अपने पास बैठा लिया, बोले, 'क्या परेशानी है ?'

'जी मेरे मर्द को.......।'

कोतवाल साहब ने गुलाबदेई की बाँह थाम ली और अपने सीने की तरफ़ उसे खींच लिया, 'तुम बहुत खूबसूरत हो। चोरी का पट्टे वाला केस है। घबराओं नहीं।'

कोतवाल साहब दिन में ही पिए थे। उन्होंने गुलाबदेई के गाल पर काट खाया। गुलाबदेई दहशत में उठकर भागने लगी कि कोतवाल साहब की मजबूत गिरफ्त ने ऐसा झटका दिया कि वह उनकी गोद में आ गिरी।

'मैं अभी फ़ोन कर देता हूँ।' कोतवाल साहब ने बैठे–बैठे ही नम्बर मिलाना चाहा। दूसरा हाथ गुलाबदेई के बदन की तमाम गोलाईयाँ नापने लगा।

'क्या नाम है तुम्हारे मर्द का ?' कोतवाल साहब ने पूछा।

गुलाबदेई हतप्रभ।

× × ×

गुलाबदेई शर्म से गड़ी जा रही थी। उसे लग रहा था कि अब वह किसी को शक्ल दिखाने लायक नहीं रह गई। यहाँ तक कि उसे कमरे से बाहर निकलने में झेंप लग रही थी।''[6]

पुरुषवादी समाज ने महिलाओं को हमेशा तिरस्कार की नजरों से देखा है। कुलटा, वेश्या, चरित्रहीन आदि विशेषणों से हमेशा उसे सुशोभित किया जाता है। 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास में गुलाबदेई का पति जब जेल जाता है तो उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। मर्दवादी घृणित समाज से अनेक प्रकार से वह प्रताड़ित होती है। गुलाबदेई का पति शिवलाल जेल में बंद होने के बावजूद उस पर चारित्रिक संशय करता है। जेल में खाना पीना लेकर गुलाबदेई जाती है– ''शिवलाल को गुलाबदेई का ऐसा प्यार से देखना बहुत खल गया। साली न जाने किस–किसको इन नज़रों से रिझाती होगी।

'पूरे तिरिया चरित्तर जानती है, उसने सोचा, 'ऐसा आँखों से किसी और को देख लेगी तो बेचारा बेमौत मारा जाएगा। लगता है, मेरे लौटने से पहले जरूर कोई न कोई गुल खिला देगी।'

शिवलाल से और अधिक बर्दाश्त न हुआ तो बोला, 'अम्मा के साथ ही आया करो और रात को भीतर से कुंडी लगा के सोना।''[7]

एक जमाना था जब जनकल्याण के लिए लोग नेता बनते थे। ऐसे लोग समाज में एक उच्च आदर्श स्थापित करते थे। मगर समय के साथ नेताओं का नैतिक, चारित्रिक पतन बहुत तेजी से हुआ है। उपन्यास में श्यामसुन्दर को मुख्यमंत्री प्रत्याशी बनाये जाने की संभावना है। व्यक्ति किया हुआ कर्म भूल जाता है लेकिन कर्म व्यक्ति को नहीं। ''अज़ीज़न ने तस्वीर की तरफ देखा। आज से बीस बरस पहले का दृश्य उसकी आँखों में कौंध गया। श्यामसुन्दर हाथ में व्हिस्की का गिलास लिये दिलफेंक अंदाज में अज़ीजन को दाद दे रहे थे। बगल में सुन्दरगढ के महाराज बैठे थे। सुन्दरगढ़ के महाराज तस्वीर में न होते तो अज़ीज़न ने तस्वीर फेंक दी होती और फ्रेम न करवाई होती। 'इस तस्वीर में आप भी हैं?'

'हम ही हैं,' श्यामसुन्दर के मुँह से बेसाख्ता निकल गया। 'आज यह तस्वीर अखबार में छप जाए तो मेरा भविष्य चौपट हो जाय ! कल दिल्ली से फोन आया था कि आप शहर में ही रहिए तो जाने क्यों मेरे दिमाग में यह तस्वीर कौंध गई। ब्राह्मणों का लॉबी मुझे तबाह करने पर अमादा है। मगर मैंने भी धूप में बाल सफेद नहीं किए।'

'मगर मैंने तो धूप में ही बाल सफेद किये हैं' अज़ीज़न ने कहा, 'कल तिवारी जी का बड़का बेटा भी यही तस्वीर मांग रहा था। वह भी मुँह–माँगा दाम लगा रहा था।' श्यामसुन्दर छड़ी थामकर कुर्सी पर बैठे थे। छड़ी के साथ–साथ उनका हाथ हिलने लगा। 'मेरी आत्मा ने ठीक से आगाह किया था।' श्यामसुन्दर ने एक और गड्डी बगल की कुर्सी पर रख दी और अज़ीज़न से पूछे बगैर उठकर अपनी छड़ी से तस्वीर उतार ली।''[8]

हम सब ऐसे समय में जीवन जीने को अभिशप्त हैं। जब धर्म के नाम पर हत्या, लूट, बलात्कार, जैसी विभत्स घटनाएँ आम हैं। मगर सच्चाई यह है कि धर्म समाज के द्वारा थोपी गई चीज है। 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास इन्हीं धार्मिक कट्टरताओं पर चोट करता है। उपन्यास में मल्लू कहता है– ''उसका घर–बार है न दोस्त अहबाब। होश संभाला तो अपने को स्टेशन पर पाया। वहीं कुछ खाने को मिल जाता तो खा लेता वरना प्लेटफार्म पर दरगाह के पास सो रहता। उसे नहीं मालूम वह हिन्दू है या मुसलमान।''[9]

कार्ल मार्क्स के विचारों का आगमन पूरी दुनियां में एक क्रान्तिकारी परिघटना है। शोषण का विरोध एवं शोषितों के प्रति सहानुभूति इसका मुख्य उद्देश्य है। मार्क्स ने दुनियां भर में हो रहे मजदूरों के शोषण के खिलाफ आवाज उठाई। उन्हें सुसंगठित होकर शोषण, अत्याचार के खिलाफ लड़ने के लिए प्रेरित किया। 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास में लतीफ़ मार्क्स के विचारों का वाहक है। उसे मजदूरों की सहानुभूति एवं समर्थन हासिल है।

''कामरेड लतीफ़ !'

'जिन्दाबाद !'

'मज़दूर एकता।'

'जिन्दाबाद !'

'दुनियां भर के मज़दूरो !'

'एक हो जाओ।' ''[10]

राजनीतिक पार्टियाँ अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए तरह–तरह की तिकड़म आजमाती हैं। भोली–भालि जनता को गुमराह किया जाता है। कभी जाति, धर्म, सम्प्रदाय के नाम पर, तो कभी क्षेत्रवाद, भाई–भतीजावाद के नाम पर।

''हिन्दू धर्म की रक्षा के लिए

अपना कीमती वोट सुरेश भाई को दीजिए।''[11]

साम्प्रदायिक माहौल के बावजूद सामाजिक सद्भावना के हितैषी जननेता 'सर्वधर्मसमभाव' को एक नीति की तरह अपनाते हैं।

'कामरेड लतीफ़ जिन्दाबाद !'

'हिन्दू–मुस्लिम एकता'

'ज़िन्दाबाद !''[12]

अशिक्षा, गरीबी, भूखमरी एवं अंधविश्वास हमारे समाज में एक अभिशाप है। 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास इसको बेपर्दा करता है। गुलाबदेई एक अशिक्षित समय की मारी हुई स्त्री है। बचपन में माँ–बाप चल बसे। तो उसके रिश्ते के मामा ने कम उम्र में ही शिवलाल नामक अधेड़ से पैसे लेकर उसकी शादी कर दी। अधेड़ अवस्था में शिवलाल उस पर शक करने लगता है, ''शिवलाल की स्थिति दिन–ब–दिन दयनीय और कारुणिक होती जा रही थी। वह पूर्णरूप से निष्क्रिय हो गया था। यहाँ तक कि बिजली का बिल जमा करने भी गुलाबदेई ही जाती थी। पीछे से वह कल्पना करता रहता कि कतार में कोई आदमी बहुत सटकर गुलाबदेई के पीछे खड़ा है, फिर उसे लगता है कि गुलाबदेई भी एक एक कदम पीछे हटकर उससे चिपक गई है। शिवलाल खटिया से उठकर बैठ जाता है। उसकी साँस तेजी से चलने लगती। उसकी टाँगों में सैकड़ों कीड़े रेंगने लगते। उसका सर फटने लगता। उसका दिल ज़ोर से धड़कता। उत्तेजना में उसके माथे पर पसीने की बूँदे उभर आतीं। बैठने की शक्ति न रहती तो वह कटे पेड़ की तरह खटिया पर गिर जाता। उसका समय एक ऊबे हुए चौकीदार के जीवन की तरह बहुत मंद गति से सरक रहा था। दिरभर वह चक्की के दरवाज़े पर तैनात रहता।''[13]

हमारे समाज में अंधविश्वास का बोलबाला है, व्यक्ति सफल होने के लिए तथाकथित बाबाओं, मुल्लाओं के सान्निध्य में जाकर ठगी का शिकार हो जाते हैं। आधुनिकता के बावजूद तथाकथित अंधविश्वासों में लोगों का रूझान वर्तमान समाज में दिखाई देता है। उपन्यास में सिद्दीकी साहब 'विधायक' का टिकट पाने का अनेक प्रयास करते हैं, मगर सफलता नहीं मिलती। 'श्यामसुन्दरजी' के पास विधायकी का टिकट पाने के लिए सिद्दीकी साहब ताबीज़ का सहारा लेते हैं– ''सिद्दीकी साहब एक मंत्री के रूप में कमरे में दाखिल हुए थे और एक फ़राश की हैसियत से बाहर निकल रहे थे। उन्होंने जेब से ताबीज़ निकाला और कूड़ेदान में फेंक दिया। प्रेम जौनपुरी को एक भद्दी गाली दी। श्यामसुन्दरजी का ख्याल आते ही थूकने लगे।''[14]

हमारी सामाजिक मान्यताएँ कुछ बुरी हैं, तो कुछ अच्छी भी। प्रत्येक माता–पिता की यह ख्वाहिश होती है कि अपने औलाद की अच्छी परवरिश के बाद शादी कर दी जाय। उपन्यास में गुल कहती है कि ''अम्मा की दिली ख्वाहिश है कि बारात उनके द्वार तक आए। लड़के के माता–पिता की मंजूरी हो। लड़का सरकारी नौकरी में हो। लड़के का कद छह फीट से कम न हो। उसका उच्चारण शुद्ध हो।''[15]

स्त्रियाँ हमेशा से उपेक्षित रही हैं। उन्हें उचित सम्मान हमारे पितृसत्तात्मक समाज द्वारा नहीं दिया जाता, जबकि देश के विकास में उनका बराबर का योगदान रहा है। कभी माँ के रूप में, तो कभी बेटी के रूप में, तो कभी पत्नी के रूप में स्त्रियों का योगदान समाज को मजबूती प्रदान करता है। महिलाओं के एक नहीं वरन् विविध रूप हैं– ''वेश्याएं न होतीं तो हिन्दुस्तान के पारम्परिक संगीत, कला और नृत्य का विनाश हो गया होता।...... समाज में वेश्याएँ न होतीं तो पूरा समाज विषय–वासना का मंच बन जाता। नाली को बंद कर दो तो देखो कितनी बू पैदा होती है। समाज के तथाकथित ठीकेदार इसी भाषा में सोचा करते हैं। उनके भीतर सड़ाँध भरी है। बड़े–बड़े समाज सुधारकों को मैंने अंधेरे में कोठों की सीढ़ियाँ चढ़ते देखा है। जिस शख्स में इतिहास को समझने की बुद्धि न होगी, वह....... बाज़ारू टिप्पणियाँ करेगा। मैं तवायफ़ो के पेशें को बहुत इज़्ज़त से देखती हूँ। मैं उन औरतों की बात नहीं कर रही जो जिस्म का सौदा करती हैं। मेरा आशय उन खानदानी तवायफ़ों से है जिनके यहाँ आज भी शास्त्रीय संगीत, नृत्य और वादन का सम्मान है। जिनकी पूरी जिंदगी इन कलाओं को समर्पित है। जो आठ–आठ दस–दस घंटे आज भी रियाज करती हैं।''[16]

रवीन्द्र कालिया ने गरीबी, भूखमरी, अशिक्षा स्त्री उत्पीड़न, वेश्याओं की समस्या एवं सम्प्रदायिकता का 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास में सजीव चित्रण किया है। राजनीतिक पार्टियाँ अपने स्वार्थवश साम्प्रदायिकता का खेल खेलती हैं। हमारे समाज में गंगा–जमुनी तहजीब की नींव बहुत पुरानी है। उपन्यास के पात्र सिद्दीकी साहब कहते हैं कि– ''मैं अक्सर महसूस करता हूँ, महसूस ही नहीं करता, इसमें यकीन भी करने लगा हूँ कि हिन्दू और मुसलमान एक ही नदी के दो साहिल हैं और सदियों से साथ–साथ रहते चले आ रहे हैं। मैंने बारहा कोशिश की है यह जानने की कि क्या वजह है, मुल्क में अंग्रेजों के आने से पहले फ़िरकादाराना फसाद नहीं होते थे। बहुत से सवाल उठा करते हैं मेरे जेहन में कि हिन्दुस्तान में आज भी मुसलमानों को औरंगजेब के पैरोकार की शक्ल में ही देखा जाता है। क्यों नहीं लोग मुसलमान को अकबर, निज़ामुद्दीन औलिया और ख्वाज़ा सलीम चिश्ती से जोड़कर देखते ?

.........दोनों कौमें हिन्दुस्तान की मुकद्दस धरती पर सदियों से साथ–साथ रह रही हैं और जिस तरह प्रयाग में दोनों नदियाँ मिलकर एक हो जाती हैं, एक दिन दोनों कौमें एक दूसरे को गले लगाएँगी।''[17] फ़िरकापरस्त पार्टियाँ अपने चुनावी फायदे के लिए लोगों में नफरत की आग पैदा करती हैं। समाज में यह अफवाह फैलाया जाता है कि मुसलमानों को विदेशों से पैसा आता है वे ''पाकिस्तान के एजेंट''[18] हैं।

समाज में अगर इंसानियत से लोगों का विश्वास हट जाये तो अनाचार अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाएगा। मानवीय संवदेना व्यक्ति को एक–दूसरे से बांध कर रखती है। गरीबों, असहायों का कोई जाति या धर्म नहीं होता। 'खुदा सही सलामत है' में मल्लू एक निसहाय पात्र है। जन्म से ही उसके माता–पिता नहीं है। उसका पालन पोषण कब कहाँ हुआ उसे नहीं मालूम ? सड़क किनारे खानाबदोश की जिंदगी बिताने वाला 'मल्लू' जब होश संभालता है तो वह भीख मांगने के बजाय श्रम करना पसंद करता है। हजरी बी नामक वृद्ध वेश्या के यहाँ मल्लू आश्रय पाता है। मगर जब कुछ शरारती तत्त्वों के द्वारा उसके धर्म को लेकर अफवाह उड़ाया जाता है तो स्थितियां और विकराल हो जाती हैं। ''मर जाओ हरामियों शर्म से। एक बेबस आदमी को परेशान कर रहे हो। तुम यजीद की औलाद हो। क्या देखना चाहते हो तुम उसे नंगा करके। लो मैं दिखाती हूँ'' हजरी बी ने अपना पेटीकोट उतार दिया, 'लो हरामज़ादों देख लो! देख लो!!' उसने देखते–देखते बदन के तमाम कपड़े उतारकर फेंक दिए। हजरी छाती पीट रही थी और कपड़े नोच रही थी। हजरी का रूख देखकर किसी ने मल्लू के ऊपर उसकी लुंगी फेंक दी। मल्लू ने लुंगी पहनी और बग़ैर अपने ठेले और बिखरी सब्ज़ियों की तरफ़ देखे गली से बाहर हो गया।''[19]

शोषकों के प्रति विरोध एवं शोषित के प्रति सहानुभूति इस उपन्यास में दिखाई पड़ता है। लतीफ शोषकों का विरोध करने वाला प्रतिनिधि पात्र है। वह मजदूरों की समस्याओं को ईमानदारी से उठाता है। लतीफ कहता है मजदूर भाईयों ''अपने श्रम का मूल्य समझो, शोषण का विरोध करो।''[20] लतीफ समानता चाहता है। कारखाने में काम करते हुए लतीफ मजदूरों के साथ हो रहे शोषण से आहत है। वह विद्रोही स्वर में बातचीत करता है–

''इश्तिराक़ीयत।'

'यानी।'

'समानता।'

'क्या सब मज़दूर एक से कुशल होते हैं।'

'हो सकते हैं।'

'कैस हो सकते हैं ?'

'समान वेतन से, समान सुविधाओं से।''[21]

वर्तमान समाज अपने को आधुनिक मानता है। शिक्षा, स्वास्थ्य, परिवहन आदि में मूलभूत परिवर्तन हुआ है। वैश्विकरण के दौर से गुजरने के बावजूद हमारा समाज कुछ मामलों में जड़ बना हुआ

है। हम अपने पसंद की शिक्षा, रोजगार तो पा सकते हैं, मगर शादी–विवाह अपनी मर्जी से नहीं कर सकते। कुछ विद्रोही स्वभाव के क्रान्तिकारी युवा इन जड़ताओं को चुनौती दे रहे हैं। उपन्यास में जितेन्द्र मोहन शर्मा विश्वविद्यालय में प्राध्यापक हैं वे आधुनिक सोच के वाहक हैं। वह एक रईस वेश्या अज़ीज़न बी की पुत्री गुल से प्रेम करते हैं। शादी करना चाहते हैं लेकिन समाज में उन्हें अनेक चुनौतियों का सामना करना पड़ता। आधुनिकता के दौर में भी अंतर्जातीय एवं अंतधार्मिक विवाह एक अभिशाप बना हुआ है। आज़ीज़न बी प्रोफेसर जितेन्द्र मोहन शर्मा से गुल की शादी की सहमति देती हैं, लेकिन लोग इसे साम्प्रदायिकता का रंग देते हैं। सिद्दीकी साहब कहते हैं– ''मेरी इल्तिजा यह है कि यह शादी फिलहाल मुल्तवी कर दीजिए। आपने शादी मुल्तवी न की तो शहर में दंगा हो जाएगा। यह दूसरी बात है कि शहर में दंगा तब भी होगा, अगर आप शादी मुल्तवी कर देंगी। बस आगाह करने चला आया। अब चलता हूँ।''[22]

धर्म, जाति, क्षेत्रवाद के नाम पर हमारे समाज को तोड़ने की कोशिश की जाती है। सामाजिक व्यवस्था बहुत ही क्रूर है। जब कोई पढ़ा लिखा क्रान्तिकारी युवा अपने पसंद की शादी करना चाहता है तो समाज उसका दुश्मन हो जाता है। 'खुदा सही सलामत है' उपन्यास के पात्र जितेन्द्र मोहन शर्मा एक वेश्या की पुत्री से विवाह कर सामाजिक कुरीतियों को खत्म करना चाहते हैं। मगर उपन्यास में इसका अंजाम बहुत बुरा होता है। ''छत पर जाकर शर्मा की सिगरेट पीने की इच्छा हुई। ज्यों ही उसने सिगरेट मुँह में दबाकर माचिस जलाई, एक गोली उसके सीने के आर–पार निकल गई। दूसरी गोली कील की तरह ठीक उसके माथे पर ठुक गई। प्रोफ़ेसर शर्मा लड़खड़ाकर वहीं गिर गया।.......गोली की आवाज सुनकर अज़ीज़न और हसीना छत की तरफ़ लपकीं मगर सामने नफ़ीस को इत्मीनान से सिगरेट फूँकते देखकर आश्वस्त हो गईं।''[23]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः

1. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 10
2. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 10
3. वही, पृ0 11
4. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 11
5. वही, पृ0 12
6. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 29
7. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 45
8. वही, पृ0 127
9. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 143
10. वही, पृ0 190
11. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 193
12. वही
13. वही, पृ0 197
14. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 237
15. वही, पृ0 252
16. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 254–55
17. वही, पृ0 317
18. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 318
19. वही, पृ0 321
20. वही, पृ0 348
21. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 352
22. वही, पृ0 354
23. खुदा सही सलामत है–रवीन्द्र कालिया, पृ0 394

भारत में पंचायती राज संस्थाओं के उदय और विकास में मील के पत्थर

डॉ0 मु0 इकबाल खाँ
एसोसिएट प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग,
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

भारत विश्व में जनसंख्या की दृष्टि से दूसरा और क्षेत्रफल की दृष्टि से सातवां स्थान रखता है। भारत में विश्व की 17.5 प्रतिशत जनसंख्या निवास करती है जबकि इसके पास विश्व का केवल 2.4 प्रतिशत क्षेत्र है।

भारत एक विशाल तथा गाँवों का देश है। इसकी 68.9 प्रतिशत आबादी 6,41,000 गाँवों में निवास करती है। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत में 642 जिले, 5924 ब्लॉक और 640930 गाँव थे। इससे स्पष्ट है कि गाँवों की उन्नति से ही देश की प्रगति संभव है।

ऐतिहासिक परिदृश्य–

भारत में पंचायतों का स्वरूप बहुत पुराना है। लगभग 2500 से 1500 ई0 पू0 आर्य मध्य एशिया से भारत आये। यह लोग ग्रामीण जीवन जीते थे। इन्होंने अपने जीवन तथा सम्पत्ति को सुरक्षित करने के लिए व्यवस्थाऐं बनाई। उस समय भी आपसी झगड़ों का फैसला पंचायतों द्वारा ही होता था। भारत के प्रथम प्रधानमंत्री पं0 जवाहर लाल नेहरू का कहना था कि ''ग्राम स्वतंत्र थे और लोगों की चुनी हुई पंचायत उनके कार्यों का प्रबन्ध करती थी। यहाँ तक कि राजा भी जो चाहता था नहीं कर सकता था। राजा को मनमानी करने पर पद से हटाया भी जा सकता था।''[1] इसस पता चलता है कि इन पंचायतों को लोगों के आर्थिक, सामाजिक और राजनीति जीवन को सुरक्षित करने के लिए अपने कार्यों के सम्पादन में काफी स्वायत्ता प्राप्त थी। सर चार्ल्स मेटकॉफ का वर्णन इस बात का पूर्ण समर्थन करता है कि ''ग्राम के लोगों को वह सारी सुविधाएँ प्राप्त थी जो वह चाहते थे और पूरी तरह से कार्य करने के लिए स्वतंत्र थे।''[2] समय के साथ इन स्वतंत्र रिपब्लिक ने अपना महत्व खो दिया क्योंकि सामंतवाद और जमींदारी के उदय ने इनके स्वतंत्र रूप से कार्य करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। यह स्थिति ब्रिटेन के भारत आगमन तक बनी रही। पूरे भारत पर नियंत्रण करने के बाद ब्रिटेन ने ''एक शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार की स्थापना की जिसका मुख्य कार्य राजस्व का एकत्रीकरण, जनता के जीवन और सम्पत्ति की सुरक्षा, संचार की व्यवस्था, सार्वजनिक स्वास्थ्य, लोक निर्माण और शिक्षा''[3], आदि था।

लार्ड रिपन का योगदान –

स्थानीय संस्थाओं को पुनर्जीवित करने का कार्य ब्रिटिश काल में लार्ड रिपन द्वारा 1882 के एक्ट द्वारा किया गया। उसका कहना था कि स्थानीय लोगों की विभिन्न प्रकार की समस्याओं के समाधान के लिए सलाहकार समितियों के स्थान पर **बोर्डों** का गठन किया जाये। इस मॉडल के दो स्तर होंगे– **तहसील बोर्ड** और **जिला बोर्ड**। इन बोर्डो के स्थानीय प्रतिनिधियों को शक्तियों का हस्तान्तरण भी किया जाए जिससे कि वे ठीक ढंग से अपने कार्यों को कर सकें।[4] लार्ड रिपन एक सुधारवादी व्यक्ति था उसके द्वारा स्थानीय सरकार के संदर्भ में उठाया गया कदम सराहनीय था लेकिन ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य भारतीयों की समस्याओं का समाधान करना नहीं बल्कि शासन करना था। भारतीय जनता को भी विदेशी हुकूमत के किसी कार्य पर विश्वास नहीं था इसलिए जनता ने भी इन संस्थाओं को किसी तरह का सहयोग प्रदान नहीं किया। इसका परिणाम यह हुआ कि ये संस्थायें जिला कलेक्टर के नियंत्रण में चली गयीं और जनता भी स्थानीय स्तर पर लोकतान्त्रिक तरीके से अपने राजनीतिक अधिकार के उपयोग से वंचित रह गयी। इस दिशा में लार्ड रिपन द्वारा उठाया गया कदम सराहनीय था इसीलिए उसे भारत में पंचायती राज संस्थाओं का **जन्मदाता या पिता** कहा जाता है।

भारत शासन अधिनियम, 1919–

स्थानीय संस्थाओं को शक्तिशाली बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम 'भारत शासन अधिनियम–1919' द्वारा उठाया गया। इस एक्ट के माध्य से ब्रिटिश सरकार ने '**हस्तांतरित विषय**' राज्यों के सुपुर्द कर दिये। इससे पहले यह विषय (पुलिस, स्थानीय शासन, आदि) अंग्रेजी हुकूमत के पास थे। इसका लाभ यह प्राप्त हुआ कि राज्य सरकारों ने व्यापक अधिकार स्थानीय संस्थाओं को दे दिये जिससे कि वे स्थान विशेष के लोगों की समस्याओं का ठीक ढंग से निपटारा कर सके। स्थानीय संस्थाओं के वित्तीय संकट को दूर करने के लिए उन्हें विभिन्न प्रकार के कर लगाने और उन्हें वसूलने का अधिकार भी प्रदान कर दिया गया। इस दिशा में 1919 का भारत शासन अधिनियम '**मील का पत्थर**' साबित हुआ।

ब्रिटिश शासन में ग्रामीण लोगों की समस्याओं के समाधान के लिए पंचायतों को जो अधिकार दिये गये वे 'सीमित और अपर्याप्त' थे। 1947 में भारत के स्वतंत्र होने के बाद स्थिति बदल गयी क्योंकि अब भारतीय सरकार सीधे जिम्मेदार थी अपने लोगों की आवश्यकताओं और उम्मीदों को पूरा करने के लिए और देश के पुनर्निर्माण तथा दयनीय आर्थिक स्थिति से बाहर निकालने के लिए। लक्ष्य निःसंदेह बहुत बड़ा था और इसके लिए बड़े पैमाने पर धन की आवश्यकता भी थी। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी का मानना था कि ग्रामीण विकास से ही देश का विकास संभव है जिसे उन्होंने 'ग्राम स्वराज' की संज्ञा दी। हिन्दी के महान साहित्यकार **मुंशी प्रेमचन्द** ने भी अपनी कहानी के माध्यम से पंचायत के निष्पक्ष रूप से कार्य करने को उजागर किया था कि ''पंच में परमेश्वर निवास करता है।'' भारतीय संविधान के शिल्पकारों के दिमाग में भी यह बात विद्यमान थी कि देश की उन्नति और समृद्धि का रास्ता गाँव के विकास से निकलता है। इसीलिए उन्होंने '**राज्य के नीति निदेशक तत्व के अन्तर्गत 'अनुच्छेद 40 के तहत**' ग्राम पंचायतों को जीवित करने और पूर्ण ध्यान देने की जिम्मेदारी राज्यों पर छोड़ दी। ''राज्य ग्राम पंचायतों का गठन करते समय आवश्यक अधिकार तथा शक्तियाँ उन्हें प्रदान करें जिससे कि वे ठीक ढंग से कार्यों को सम्पन्न कर सकें।''

सामुदायिक विकास कार्यक्रम और राष्ट्रीय विस्तार सेवा–

भारत के स्वतंत्र होने के बाद सबसे बड़ी चुनौती यह थी कि ग्राम विकास का कार्य कहाँ से और कैसे शुरू किया जाये? **'सामुदायिक विकास कार्यक्रम' 1952** में शुरूकिया गया। प्रयोग के उद्देश्य से, अमरीका की मदद से 'पायलेट प्रोजेक्ट' 55 चुने हुए क्षेत्रों में शुरू किया गया। इस योजना का उद्देश्य ''लाखों लोगों की भीषण गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा, अज्ञानता, बीमारी से बाहर निकालना और उन्हें सम्मानित मानव जीवन प्रदान करना था।''[5] सामुदायिक विकास कार्यक्रम के तहत निर्धारित लक्ष्यों को पूर्ण करने के लिए प्रशासनिक ढाँचे की आवश्यकता थी इसलिए **1953** में **'राष्ट्रीय विस्तार सेवा'** शुरू की गयी। जिले का मध्य स्तर 'ब्लॉक' इस विकास कार्य के लिए प्रयोग के रूप में चुना गया। ब्लॉक स्तर पर बी0डी0ओ0, उसके नीचे ए0डी0ओ0 और एक ग्राम स्तर पर ग्राम विकास अधिकारी की व्यवस्था की गयी। इन अधिकारियों की यह जिम्मेदारी थी कि ''ग्रामीण लोगों को, खेत–खलियान, कृषि, पशुपालन और ग्रामीण उद्योग धन्धों की वैज्ञानिक और तकनीकी जानकारी दें''[6] या उपलब्ध करायें।

इस कार्यक्रम के माध्यम से परम्परागत तरीके से विकास के कार्यों को सम्पन्न करने के तरीकों को नकारने का प्रयास किया गया जो ब्रिटेन की देन था। यह आशा व्यक्त की गयी कि इन नयी प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से गाँव का सामाजिक–आर्थिक विकास संभव हो सकेगा। यह प्रयास था कि लोग अपने विकास के कार्यो में स्वयं भागीदारी करें, सरकार उन्हें भरपूर सहयोग प्रदान करेगी।

सरकार को शीघ्र ही यह आभास हो गया कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम के तहत भारी खर्च करने के बाद भी निर्धारित लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सके। ब्लॉक स्तर पर गठित 'ब्लॉक सलाहकार समिति' ग्रामीण लोगों को विकास कार्यक्रम का उद्देश्य समझाने में और उनका सहयोग और सहभागिता प्राप्त करने में पूरी तरह विफल रही।[7] इसके अलावा, 'ग्राम पंचायत' ने भी लोगों का विकास कार्यक्रम के लिए सहयोग प्रदान करने में कोई महत्वपूर्ण भूमिका नहीं निभाई।[8] ब्लॉक और ग्राम स्तर के अधिकारियों तथा ग्राम पंचायत द्वारा विकास कार्यक्रम को गंभीरता से न लेने के कारण सरकारी धन का अपव्यय हुआ और जनता की विकास से जुड़ी समस्याओं को भी दूर नहीं किया जा सका। इसके अतिरिक्त, कुछ

राजयों में लोगों की समस्याओं को दूर करने के लिए प्रशासनिक ढाँचा भी स्थापित नहीं हो सका। इस संदर्भ में योजना आयोग द्वारा तैयार की गयी द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956–61) की संतुतियाँ बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसने निर्देश दिया कि लोकतांत्रिक आधार पर जिले स्तर के विकास प्रशासन और स्थानीय प्रशासन का पुनर्गठन किया जाये और ग्राम पंचायत को उससे जोड़ा जाए।[9] जिससे कि विकास का कार्य ठीक ढंग से निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किया जा सके।

संदर्भ ग्रन्थ सूची –

1. Jawahar Lal Nehru; Glimpses of world History, Lindsay Drummond Ltd., London, 1945, P.24.
2. Rep. select Committee of House of Commons, Vol. III, opp. 84, P. 331.
3. F. Harold Aldeffer; Local Government in Developing countries, McGraw- Hill Book Company, London, 1964, P. 71
4. Hugh Thinker; Foundation of Local Self-Government in India, Pakistan and Burma, The Athlone Press, London, 1954, P. 55.
5. B.J. Trivedi; "Let IRDP be people oriented for better results," Kurukshetra, May 1990, p. 25
6. Jayant Patil; Democratic Decentralization : A revival of Gandhiji's Vision, Kurukshetra, Vol. XL-III, No. 1, Oct. 1994, P. 18
7. B. Maheshwari, Studies in Panchayati Raj, Delhi, Metropolitan, 1963, P. 8.
8. T.N. Chatruvedi and R.B. Jain; Panchayati Raj, IIPA, New Delhi, 1981, P. 48
9. योजना आयोग, द्वितीय पंचवर्षीय योजना, भारत सरकार, 1956–61

प्रारम्भिक आधुनिक भारत की निर्वाचकीय राजनीति में महिलाओं की सहभागिता (1900–1947)

डॉ. विवेक सेंगर
असिस्टेन्ट प्रोफेसर, इतिहास विभाग,
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़

20वीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में बंगाल में बंग महिला समाज एवं अघोरीकामिनी नारी समिति, महाराष्ट्र में सत्तारा अबलोन्नति सभा, बंगलौर में महिला सेवा समाज, बनारस में भारत महिला परिषद एवं इलाहाबाद में प्रयाग महिला समिति जैसे स्थानीय एवं क्षेत्रीय संगठनों ने जन्म लिया, इनमें से कुछ कार्यशील समाज सुधारक संगठन थे जबकि अन्य दूसरे संगठन स्त्रियों के हित पर चर्चा के मंच मात्र थे। सन् 1905 में भारत महिला परिषद ने हिन्दू स्त्री की जीवन प्रणाली के लिये आचार संहिता बनाये जाने तथा आधुनिक भारत की नागरिक के रूप में उनकी भूमिका जैसे विषयों पर परिचर्चा आयोजित की, जिसमें महिलाओं द्वारा विभिन्न विषयों पर अपने विचार व्यक्त किये गये जिसमें हिन्दू पत्नी तथा उसे क्या होना चाहिये, स्त्री शिक्षा, आधुनिक भारत में स्त्रियों का स्थान, मातृ पूजा, हमारी जाति की जिम्मेदारियां, गृहस्थ धर्म एवं पतिव्रता, ब्रहमचर्य तथा उसके लाभ, वेदोक्त संस्कार, हवन के लाभ, बाल विवाह का नुकसानदायक असर तथा आधुनिक युग में भारतीय स्त्री का कर्तव्य।[1]

बड़े पैमाने पर स्त्रियों को एक मंच पर लाने का पहला प्रयास सन् 1908 में किया गया। मद्रास में महिला परिषद (Ladies Congress) सम्पन्न हुई जिसमें समूचे दक्षिण भारत से आई महिलाएं शामिल हुई। इस बैठक में स्त्रियों द्वारा तमिल, तेलगू, मलयालम, मराठी तथा अंग्रेजी भाषा में महिला हितों पर ध्यान आकृष्ट किया गया। इसके दो वर्ष बाद सरला देवी चौधुरानी ने अखिल भारतीय महिला संगठन की स्थापना के द्रष्टिकोण से भारत की स्त्री महामण्डल की स्थापना की, मण्डल की स्थापना स्त्रियों के समान हितों तथा भारत में स्त्रियों की नैतिक, वस्तुपरक प्रगति के उद्देश्य से की गयी। इसमें बिना किसी भेदभाव के सभी जातियों एवं वर्णों की स्त्रियों को शामिल किया गया।[2]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशनों में महिलाएं उपस्थित अवश्य होती थीं किन्तु उन्हें अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं था। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के 16वें अधिवेशन में सन् 1900 में, कादम्बिनी गांगुली ने अधिवेशन को सम्बोधित किया जिसमें उन्होंने महिलाओं को आमंत्रित करने पर अध्यक्ष को धन्यवाद ज्ञापित किया।[3]20वीं सदी के प्रारम्भ में महिला मताधिकार की मांग को, अभिजात्य वर्ग की उन महिलाओं द्वारा तैयार किया गया जो अपने राजनीतिक अधिकारों के लिये सचेत थीं एवं लोकतांत्रिक मूल्यों व आदर्शो से प्रभावित थीं। महिलाओं में राजनीतिक चेतना जागृत करने के लिये एनीबेसेन्ट, डोरोथी जिनारजदासा, मार्गेट क्यूसिन, सरोजनी नायडू, हीरा बाई टाटा, मालती पटवर्धन एवं महिला संगठन की अन्य शिक्षित महिला सक्रिय रूप से कार्य कर रही थीं। महिलाओं के मताधिकार की मांग को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस और सम्पूर्ण भारत के महिला संगठनों से बल मिल रहा था।[4] 1917 तक स्त्री मताधिकार को कांग्रेस ने सीधे सीधे नहीं उठाया।[5] 15 दिसम्बर 1917 में सरोजनी नायडू ने स्त्रियों के लिये मताधिकार की मांग करने के लिये लन्दन में भारत सचिव मांटेग्यू से एक प्रतिनिधि मण्डल सहित मुलाकात की। 1918 में, उन्होंने कांग्रेस के अधिवेशन में स्त्री पुरूष दोनों के लिये मताधिकार की समान पात्रता की मांग करते हुयेएक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। 1925 में उनको कांग्रेस की अध्यक्ष चुना गया लेकिन प्रेरणादायी होने के बावजूद वे स्त्री मुक्ति की विचारधारा विकसित नहीं कर सकी और न ही राष्ट्रवादी राजनीति में महिलाओं को बड़ा अधिकार दिला सकी। 1917 में जब सरोजनी नायडू प्रतिनिधि मण्डल सहित वार्ता कर रही थी तभी सरला देवी चौधरानी ने भी भारत स्त्री महामण्डल की ओर से कार्य समिति के समक्ष अपना ज्ञापन प्रस्तुत किया। प्रतिनिधि मण्डल ने मांग की कि स्त्रियों के लिये बेहतर शैक्षणिक सुविधायें एवं प्रसूति सेवायें तथा उनके भाईयों के समान ही वोट देने के अधिकार दिये जायें।[6] सरला देवी ने इसमें जोड़ते हुये कहा कि महामण्डल की राय में सरकार को

विधवाओं के लिये विशेष शिक्षा संस्थान खोलने चाहिये हिन्दू पत्नियों तथा पुत्रियों की विरासत के अधिकारों की रक्षा करने वाले कानून बनाने चाहिये तथा सरकार को यह देखना चाहिये कि विद्यालय निरीक्षण समितियों में विदेशी स्त्रियों की बजाय भारतीय स्त्रियों को स्थान दिया जाये। इसके साथ ही उन्होंने महिलाओं के लिये काम के अधिक अवसर उपलब्ध कराने की भी मांग की। उन्होंने भारतीय विवाहित नारियों के अधिकारों की रक्षा हेतु किसी विवाहित भारतीय पुरूष द्वारा किसी विदेशी स्त्री से विवाह करने को अपराधिक एवं गैरकानूनी करार दिये जाने पर जोर दिया।[7]

अखिल भारतीय स्तर पर सबसे पहले मद्रास में 1917 में विमैन्स इण्डियन एसोसियेशन का जन्म हुआ जिसका प्रारम्भ प्रबुद्ध यूरोपिय और भारतीय महिलाओं ने किया था इसमें सबसे प्रमुख थीं आयरिश नारीवादी मार्गरेट कुंजिस और एनीबेसेन्ट। 1925 में इण्टरनेशनल काउसिंल ऑफ वीमेन की शाखा के तौर पर नेशनल काउसिंल ऑफ वीमेन इन इण्डिया का गठन हुआ और आरम्भिक वर्षों में उसकी प्रमुख प्रेरणास्त्रोत लेडी मेहरबाई टाटा थीं। 1927 में आल इण्डिया वीमेन्स कांफ्रेस का जन्म हुआ जो इन संगठनों में सबसे महत्वपूर्ण था। यह संगठन महिला मताधिकार, विवाह सम्बंधी सुधार एवं कामगार स्त्रियों के अधिकार के लिये पैरवी करता था।

ब्रिटिश सरकार ने भारतीय महिला संगठनों, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, होमरूल लीग और मुस्लिम लीग द्वारा प्रस्तुत महिला मताधिकार के तर्क की अधिकतर उपेक्षा की किन्तु भारत सरकार अधिनियम, 1919 में यह व्यवस्था की कि स्त्री मताधिकार का प्रश्न प्रान्तों द्वारा निश्चित किया जायेगा। बम्बई और मद्रास पहले प्रान्त थे जिन्होंने 1921 में महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया। 1923 में संयुक्त प्रान्त (यू0पी0) ने इसका अनुसरण किया। 1926 में पंजाब, बंगाल और 1930 में आसाम, मध्य प्रान्त, बिहार और उड़ीसा ने महिला मताधिकार की अनुमति दी किन्तु महिला मताधिकार का प्रयोग करने वाले महिलाओं की संख्या बेहद कम भी क्योंकि उसमें सम्पत्ति और शैक्षिक योग्यता सम्बंधी शर्ते जुड़ी हुई थीं।[9] 1912 में देश की जनसंख्या 25.2 करोड़ थी जिसमें कुल राष्ट्रीय साक्षरता दर 5.92 प्रतिशत थी। पुरूषों की साक्षरता का प्रतिशत 10.56 था जबकि महिलाओं की साक्षरता प्रतिशत मात्र 1.05 थी। महिलाओं की व्यक्तिगत सम्पत्ति न होने एवं शैक्षिक योग्यता कम होने के कारण अधिकतर महिलाएं वोट देने के अधिकार से वंचित थीं।[10]

1930 के दशक में राष्ट्रवादी गतिविधियों में महिलाओं की सक्रियता का एक महत्वपूर्ण लाभ यह हुआ कि नारीवादी आन्दोलनों पर उच्चवगीय स्त्रियों का प्रभाव समाप्त हो गया। 20वीं सदी के प्रारम्भ में भारतीय महिला सम्मेलन में विभिन्न रियासतों की महारानियों को अध्यक्ष बनाया जाता था। 1930 के दशक में महिलाओं ने महसूस किया कि ऐसी अध्यक्ष प्रदर्शनीय मुखौटा मात्र होती हैं जबकि अखिल भारतीय महिला सम्मेलन सक्रिय स्त्रियों का संगठन है इसलिये किसी सक्रिय महिला को इसका अध्यक्ष बनाये जाने की जरूरत है इसलिये सन् 1931 में सरोजनी नायडू को सम्मेलन का अध्यक्ष चुना गया। दूसरे गोलमेज सम्मेलन में बेगम शाहनवाज तथा कमलासुब्बारायन ने भाग लिया। ये दोनों ही महिलाओं को निर्वाचन हेतु आरक्षण देने की पक्षधर थीं। इनका मत था कि महिलाओं को आरक्षण देने के बाद ही महिला–पुरूष समानता स्थापित की जा सकती है। राष्ट्रवादी स्त्रियों ने उनकी इस दलील का विरोध किया। राष्ट्रीय स्त्री सभा एवं देश सेविका संघ ने इसका भरसक विरोध किया। वीमेन इण्डियन एसोसिएशन की मारगेट क्यूसिन और मुथुलक्ष्मी रेड्डी तथा श्रीमती हामिद अली आदि ने सरोजनी नायडू के साथ मिलकर वयस्क मताधिकार के पक्ष में संयुक्त ज्ञापन जारी किया।[11]

सरकार द्वारा इस कार्य को व्यवस्थित ढंग से करने के लिये लार्ड लौथियान के अधीन एक मताधिकार समिति की 1931 ई0 में नियुक्ति की गयी। लौथियान समिति ने देश के आकार, अधिक जनसंख्या और वयस्क साक्षरता को देखते हुये वयस्क मताधिकार की मांग को खारिज कर दिया, फिर भी रियायत के तौर पर महिला और पुरूष मतदाताओं के अनुपात को 1:20 से बढ़ाकर 1:5 करने की सिफारिश की।[12] गांधीजी द्वारा डांडी यात्रा के लिये एक भी महिला को शामिल न करने के कारण राष्ट्रवादी महिलाओं में बेहद नाराजगी थी। दादा भाई नारौजी की पौत्री खुर्शीद ने गांधीजी को पत्र लिखकर इस पर अपना क्षोभ व्यक्त किया किन्तु गांधीजी द्वारा उत्तर दिया गया कि यह उनका फैसला नहीं था अपितु कांग्रेस कार्य समिति (Congress Working Committee) कमेटी का फैसला था। डांडी

यात्रा के अंतिम चरण में सरोजिनी नायडू ने गिरफ्तारी दी जिससे राष्ट्रवादी महिलाओं ने स्वयं को राष्ट्रीय आन्दोलन से जुड़ा हुआ महसूस किया।[13]

1932 के साम्प्रदायिक निर्णय ने हिन्दू निर्वाचन क्षेत्रों में दलित वर्ग के लिये आरक्षित सीटों की व्यवस्था की जिससे भारत के महिला संगठनों ने संयुक्त ज्ञापन तैयार किया जिसमें उन्होंने पृथक निर्वाचक मण्डलों और आरक्षित सीटों की योजना पर आपत्ति जताई और वयस्क मताधिकार हेतु अपनी मांग दोहराई।[14] भारत सरकार अधिनियम, 1935 ने मताधिकार को विस्तृत करते हुये 60 लाख महिलाओं तक पहुंचाया। 1937 के चुनाव में दस महिलायें सामान्य निर्वाचन क्षेत्र से चुनी गयीं, 41 आरक्षित निर्वाचन क्षेत्र और 5 प्रान्तीय विधानसभा में मनोनीत हुई। विजयलक्ष्मी पंडित संयुक्त प्रान्त की स्थानीय प्रशासन एवं लोक स्वास्थ्य मंत्री चुनी गयीं। मध्य प्रान्त (Central Province) की अनुसूइया बाई ने उपसभापति पद प्राप्त किया। हंसा मेहता बम्बई में संसदीय सचिव हुई।[15]

मुख्य राजनैतिक दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को महिला अधिकारों की अपेक्षा अधिक प्राथमिकता दी। ब्रिटिश सरकार महिला मुद्दे पर अपनी परिस्थितियों में खलल नहीं डालना चाहती थी फिर भी विभिन्न महिला संगठन महिलाओं के अधिकार के लिये अपने संघर्ष में निरन्तरता बनाये हुये थे। बाल विवाह निरोधक अधिनियम 1929 और हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम, 1937 की स्वीकृति ने महिलाओं को कुछ सन्तुष्टि अवश्य दी परन्तु उन्हें यह भीआभास हो गया कि महिलाओं को वैधानिक निर्योग्यताओं से छुटकारा दिलाना एक जटिल कार्य है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत द्वारा समस्त जनता को बिना किसी भेदभाव के वयस्क मताधिकार प्रदान किये जाने से भारतीय महिलाओं को भी राजनीति में बराबरी की स्थिति प्राप्त हो गई।

सन्दर्भ :

1. स्त्री संघर्ष का इतिहास – राधा कुमार, पृष्ठ 122
2. स्त्री संघर्ष का इतिहास – राधा कुमार, पृष्ठ 122
3. स्त्री संघर्ष का इतिहास – राधा कुमार, पृष्ठ 82
4. भारतीय समाज में महिलायें– देसाई एवं ठक्कर, पृष्ठ 6
5. पलासी से विभाजन तक – शेखर बन्धोपाध्याय, पृष्ठ 421
6. An Indian womanhood TodayM. Kunjis, Page 29
7. स्त्री संघर्ष का इतिहास – राधा कुमार पृष्ठ, 121
8. पलासी से विभाजन तक – शेखर बन्धोपाध्याय, पृष्ठ 427
9. भारतीय समाज में महिलायें – देसाई एवं ठक्कर, पृष्ठ 6
10. योजना पत्रिका वर्ष 2004 अंक मार्च, पृष्ठ 25
11. स्त्री संघर्ष का इतिहास – राधा कुमार, पृष्ठ 172
12. भारतीय समाज में महिलायें– देसाई एवं ठक्कर, पृष्ठ 7
13. स्त्री संघर्ष का इतिहास – राधा कुमार, पृष्ठ 161
14. भारतीय समाज में महिलायें– देसाई एवं ठक्कर, पृष्ठ 7
15. भारतीय समाज में महिलायें– देसाई एवं ठक्कर, पृष्ठ 7

अन्य सन्दर्भ :

1. भारत का सामाजिक सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास – पुरी, दास, चौपड़ा।
2. भारत का स्वतन्त्रता संग्राम – संपादक विपिन चन्द्र
3. आधुनिक भारत का इतिहास – एम.एस. जैन
4. Indian Women through the Ages S.K. Ghosh

सूचना एवं प्रौद्योगिकी : हिंदी की भूमिका

डॉ. ऋचा द्विवेदी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, क्षेत्रीय केंद्र, प्रयागराज

हम 21वीं सदी को सूचना एवं प्रौद्योगिकी से संचालित ज्ञान की सदी कह सकते हैं । ऐसे में हिंदी को इस यात्रा में ज्ञान की संवाहिका बन उसका मार्ग प्रशस्त करना पड़ेगा, साथ ही साथ भाषा एवं साहित्य के बीच संतुलन बनाते हुए हिंदी की भारतीय एवं भारतेतर संपदा को उन्मुक्त गगन में विचरण करने का समान अवसर भी प्रदान करना होगा । इसे एक ओर वैश्विक प्रतिस्पर्धा में बने रहने के लिए सूचना–साधनों से संपन्न बनना होगा तथा दूसरी ओर हिंदी के वैश्विक जनमानस की वैचारिकी में भी बदलाव लाना अपरिहार्य होगा, तभी वह अपनी अधिग्राही लोकव्याप्ति के लिए समादृत होगी। हिंदी सही अर्थों में तभी लोकतांत्रिक तथा बहुआयामी विश्वव्यवस्था के सर्वथा अनुकूल बन पाएगी।

इतिहास इस बात का साक्षी रहा है कि ज्ञान पर जिसका अधिकार रहा है उसी ने इसे हथियार बनाकर विश्वव्यवस्था पर कब्जा किया है । ऐसी स्थिति में हिंदी को प्रतिरोध की भाषा बनाने का भी एक विकल्प मौजूद है जिसके सहारे विश्वभाषा समुदाय के बीच दावेदारी पेश करते हुए इसे वैकल्पिक ज्ञान की भाषा के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

आज हिंदी संसार की समृद्ध भाषाओं में गिनी जा रही है। चाहे बात विचार, संचार या विस्तार की हो, हिंदी की स्थिति और उपस्थिति काबिलेतारीफ है। हर दृष्टि से सक्षम तथा लगातार आगे बढ़ते रहने के जज्बे से लबरेज यह दुनिया की दो महत्वपूर्ण भाषाओं– मंदारिन तथा अंग्रेजी के साथ खड़ी दिख रही है। आज विश्वग्राम की अवधारणा के सामने 'वसुधैव कुटुंबकम्' का प्राचीनतम चिंतन भी उपस्थित है जिसमें संसार भर के लोगों के बीच निहित तात्विक एकता की बात की गई है तथा जिसकी आधारशिला आध्यात्मिकता पर अवलंबित है। दूसरी ओर 'विश्वग्राम' की अवधारणा बंधन मुक्त व्यापार और व्यावसायिक समस्या तथा प्रतिस्पर्धा की बात करती है। एक आध्यात्मिक है तो दूसरा भौतिक। किंतु भौतिकता के सहारे सिर्फ बाजार बनकर रहा जा सकता है। भौतिक चिंतन एवं अनुसंधान के लिए निजभाषा ही एकमात्र विकल्प है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी में दक्षता हासिल करने के लिए भाषाविशेष की कोई जरूरत नहीं होती है। निजभाषा के अतिरिक्त दूसरी बाहरी भाषा खंडित संस्कृति लेकर हमारे बीच आती है और हमारे चिंतन की धारा को प्रभावित करती है तथा ज्ञान और जीवन के बीच एक बड़ी विभाजक रेखा खींचने का उपक्रम भी करती है।

'अयंनिजः परोवेतिगणनालघुचेतसाम्।

उदारचरितानांतु वसुधैवकुटुंबकम्।।' —महाउपनिषद, अध्याय –४, ७१वां श्लोक।

'यह अपना बंधु है और यह अपना बंधु नहीं है, इस तरह की गणना छोटे चित्त वाले लोग करते हैं। उदार ह्रदय वाले लोगों की तो (सम्पूर्ण) धरती ही परिवार है।'

वसुधैव कुटुंबकम् के शाश्वत मूल्यों के अनुप्रयोग के द्वारा ही दोनों अवधारणाओं के बीच चिरस्थायी संतुलन कायम किया जा सकता है।

हम निर्विवाद रूप से कह सकते हैं कि हिंदी में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी से संबंधित संप्रेषणीयता अपनी पूरी जीवंतता के साथ मौजूद है । वर्तमान में हो रहे अधुनातन आविष्कार स्रोत भाषा से लक्ष्य भाषा तक आसानी से पहुंच रहे हैं किंतु उसे स्वीकार करने में कहीं न कहीं हमारा भाषाई हीनताबोध आड़े आ जाता है। सत्ता के शीर्ष पर सदियों से आसीन तथाकथित विश्वभाषा हमारी अस्मिता पर हावी हो जाती है। जब फ्रांस, जर्मनी, चीन, रूस, जापान, नार्वे तथा इजराइल जैसे अनगिनत देश, जिनके जनमानस पर उक्त विश्वभाषा का कब्जा नहीं है, अपनी भाषा के बलबूते ज्ञान–विज्ञान और प्रौद्योगिकी में सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन कर रहे हैं तब सांस्कृतिक एवं भाषाई विरासत वाले हम क्यों नहीं कर पा रहे? फिरभी जब तक विज्ञान और तकनीकी विशेषज्ञ हिंदी को अपनी लेखन की भाषा नहीं बनाते तब तक हिंदी जगत भाव और शैली की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट साहित्य से वंचित रहेगा। किसी भी भाषा की चिंतन परंपरा को आगे बढ़ाने में मौलिक वैचारिकी तथा शोध की महती भूमिका होती है तथा इन कार्यों के लिए नए शब्द एवं नई अभिव्यक्तियों की निर्मिति भी होती है। इस प्रकार ज्ञान और भाषिक संपदा साथ–साथ विकसित होते हैं। ज्ञान–विज्ञान की अभिव्यंजना शक्तिको धारदार बनाने में हिंदी अपनी चेतना, प्रतिबद्धता एवं स्वाभिमान के साथ अपनी क्षमता सिद्ध कर सकती है क्योंकि अनुसंधान एवं सृजन हृदय की भाषा में ही संभव हैं। रटकर प्राप्त ज्ञान से परीक्षा में सर्वोत्तम अंक तो प्राप्त हो सकते हैं किन्तु चिंतन में स्वावलंबी हुए बिना न तो वह आविष्कार किया जा सकता है और न ही वैचारिक सोच पैदा हो सकती है। तथाकथित विश्वभाषा आज तक एक भी क्रांतिकारी ग्रंथ देने में सक्षम नहीं रही है। गीता, कुरान, बाइबल, दास कैपिटल, रामायण, महाभारत आदि महान एवं क्रांतिकारी ग्रंथ भी अन्य भाषाओं की देन हैं।

वर्तमान सदी पिछली कई सदियों की तुलना में प्रौद्योगिक उपलब्धियों के संदर्भ में ज्यादा गतिशील रही हैं। विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की मदद से हर प्रकार की दूरियां खत्म हुई हैं। वैश्विक सीमाएं संकुचित हुईं हैं। पिछली कम से कम तीन शताब्दियां पश्चिम के वर्चस्व की साक्षी रही हैं लेकिन 21वीं सदी एशिया के नाम से जानी जाएगी। एशिया की दो बड़ी शक्तियां– चीन एवं भारत की अर्थव्यवस्था तीव्रगामी है। विश्वबाजार में आने वाले दिनों में इन दोनों देशों की भूमिका महत्वपूर्ण रहने वाली है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि दोनों देशों की भाषाएं–मंदारिन एवं हिंदी वैश्विक भाषाई विकल्प के रूप में उभरेंगी। दुनिया में भारत की उभरती पेशेवर युवा शक्ति ने भी हिंदी की हैसियत को ठोस जमीन और समूचा आकाश दिया है। हिंदी प्रौद्योगिकी के अश्वमेघ के घोड़े पर आरूढ़, विश्वविजयिनी बनने की राह पर चल चुकी है। विश्वमन की आशाआकांक्षा के अनुरूपउदारमनाहिंदी एक सक्षमविकल्पपेशकरतेहुए सार्वभौमिकविस्तारप्रदानकरने की दिशा में सतत् अग्रसर है और विश्वभाषा बनने के लिए तमाम निकषों एवं प्रतिमाओं परक से जाने के लिए तत्पर भी।

इस समय मुझे 'गजानन माधव मुक्तिबोध' की कविता 'अंधेरे में' की कुछ पंक्तियां याद आ रही है–

'अब अभिव्यक्ति के सारे खतरे

उठाने ही होंगे।

तोड़ने होंगे ही मठ और गढ़ सब।'

सदियां गुजर जाती हैं तब कहीं गढ़ों एवं मठों को तोड़ने के प्रबल संकल्प के साथ इतिहास की धारा को जनसरोकारों के अनुरूप मोड़ने का अवसर आता है।

हिंदी की शुचिता और शुद्धता को लेकर उसके आग्रही लोगों की चिंता को कितना जायज ठहराया जा सकता है? यह भी एक विचारणीय बिंदु है। क्या मिलावट से भाषा के अस्तित्व पर संकट

आ सकता है? क्या भाषा अपना रंग रूप खो रही है या भाषा प्राचीनता का निर्मोक उतारकर नवीनता की ओर अग्रसर हो रही है? क्या वह त्याग और ग्रहण के फलसफे का अनुपालन करते हुए हो रहे परिवर्तनों पर स्वीकार्यता की मुहर लगा रही है? क्या मीडिया द्वारा परोसी जा रही भाषा को मानकीकृत करने की पहल तार्किक एवं जायज है?

वैचारिक दरिद्रता का अनर्गल आरोप तथा मानसिक गुलामी का भूत हमारे सर पर सवार कर दिया गया है। हिंदी की सामर्थ्य को कमतर मूल्यांकित करना भी एक तरह की मनमानी है। भाषाई अराजकता के पसरने का भी खतरा बना हुआ है। भाषा के संस्कार से नई पीढ़ी वंचित न रह जाए। भाषा के साथ इस तरह का व्यवहार अनुचित है और उसकी ताकत को कमतर आंक कर भ्रम पैदा करने की कोशिश भी। हिंदी की वैचारिकी एवं समृद्ध शब्द संपदा ज्ञान–विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी सहित अन्य विधाओं को मुखरता प्रदान करने में सर्वथा सक्षम है। यदि भविष्य में किन्हीं दो–तीन भाषाओं में विश्व को संबोधित करने की स्थिति आती है तो निश्चित रूप से उनमें से एक हिंदी अवश्य होगी। यही हिंदी की ताकत है और यह संभव हो सका है उसकी उपयोगिता एवं बाजारप्रियता के चलते। हिंदी अपनी वैचारिकी की महायात्रा के कई पड़ावों को संस्पर्श करते हुए कई धाराओं को अपने भीतर समेटे हुए सतत् प्रवाहमान है। आज के बदले हुए परिवेश में हिंदी ने अपने परंपरागत आवरणों से बाहर निकलकर एक वैश्विक पहचान बनाई है। उसकी झोली में जो भी गिरा, निखरकर बाहर आया। पिछले दो दशकों में इस भाषा ने विकास के कई नए आयाम एवं कीर्तिमान स्थापित किए हैं। वैश्विक संवाद की मशाल ले हिंदी अग्रिम पंक्ति में खड़ी भावनात्मकता से व्यावसायिकता की ओर एवं धार्मिकता से कार्मिकता की ओर अग्रसर है।

भारत में भू–राजस्व व्यवस्था : एक ऐतिहासिक अध्ययन

डॉ. शलभ चिकारा
एसो.प्रोफेसर, इतिहास विभाग
स्वामी श्रद्धानन्द कॉलेज अलीपुर,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्राचीन हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार राज्य की समस्त भूमि पर राजा का स्वामित्व होता था। राजा अपने स्वामित्व की भूमि किसी को भी अपनी इच्छा से उस पर उत्पादन करने के निये प्रदान कर सकता था। धर्म ग्रन्थों में कहीं–कहीं भूमि पर पैतृक अधिकार का भी वर्णन मिलता है तथा कहीं–कहीं भूमि को बेचने का भी उल्लेख है। उसको अदला–बदली की जा सकती थी। परंतु क्या यह अधिकार विधान प्रदत्त था, या राजा की इच्छा से ही किया जा सकता था। अधिसंख्य अध्येताओं का मत है कि भूमि पर स्वामित्व राजा का ही होता था। यही पद्धति मुसलमान शासकों के समय में भी चलती रही। स्वामित्व के अलावा एक प्रश्न यह भी है कि उस भूमि पर राजा या राज्य का राजस्व भाग कितना था और कितना भाग किसान या उस भूमि पर उत्पादन करने वाले को मिलता था। क्योंकि राजस्व व्यवस्था को अच्छाई या बुराई किसानों को प्रसन्नता या कष्ट का कारण होती थी और अन्यायपूर्ण राजस्व व्यवस्था के कारण ही किसानों में असन्तोष का विस्फोट होता था। प्राचीन भारत में उत्पादन का कितना अंश राज्य को मिलता था, इस पर विभिन्न धर्मग्रन्थों में मत भिन्नता देखने को मिलती है। साधारणतः राज्यांश उत्पादन का छठवाँ हिस्सा होता था। कहीं पर बारहवां भाग भी होता था, परंतु आपत्तिकाल में यह बढ़कर चौथाई से तिहाई तक भी हो सकता था। मनु ने 1/6, 1/8 और 1/12 की व्यवस्था ही है, परंतु आगे चलकर यह भी स्पष्ट किया है कि यदि राजा आपत्तिकाल में चौथाई भी ले ले तो उसे दोष नहीं लगता, यदि वह अपनी प्रजा को यथाशक्ति सुरक्षित रखे। गौतम 1/10, 1/0, एवं 1/6 की व्यवस्था देते हैं। वशिष्ठ एवं बौद्धायन में 1/6 की व्यवसाि है। नारद भूमि की उपज का षष्ठांश होने की आज्ञा देते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के एक मीमांसाकार ने कहा है कि राज्यांश 1/6 ही होता है,परंतु आपत्तिकाल में अर्थशास्त्र भी 1/3 या 1/4 राज्यांश की व्यवस्था देता है।[1]

राजस्व किस प्रकार वसुला जाता था, इस विषय में प्राचीन धर्मग्रन्थ प्रायः मौन ही है, परंतु इनके अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि राजा या तो प्रति बीघा या प्रति एकड़ के हिसाब से नापकर या कुल उपज को तौलकर उसके हिसाब से राज्यांश वसूल करता था। मुस्लिम काल के प्रारम्भ से ही राज्यांश वसूल करने के लिये मध्यस्थों की अवधारणा का विकास हुआ। इन मध्यस्थों को सूरदार, जागीरदार, वक्फदार ओर सीरदार कहते थे। चूंकि अधिसंख्यक शासक विदेशी थे, इसलिये भूमि का अधिकांश हिस्सा स्थानीय हिन्दू सरदारों के अधीन था, जो उसके बदले शासक को एक निश्चित रकम कर के रूप में प्रदान करते थे। आगे चलकर यही सरदार जमींदार कहलाने लगे, परंतु इन सरदारों का निर्धारण किस प्रकार होता था, इसका ऐतिहासिक ग्रन्थों में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। सरदारों का भूमि पर स्वामित्व उनकी राजभक्ति पर निर्भर करता था, जिसमें मुख्य पहलू यह था कि वह नियमित रूप से समय पर कर अदा करते रहें। कर न अदा करने की स्थिति में बादशाह उन्हें अपदस्थ कर देता था।[2] इसके अतिरिक्त सैनिकों तथा सेनापतियों को सैनिक सेवा के लिये जागीर या इक्ताऐं प्रदान की जाती थीं। कभी कभी सुल्तान या बादशाह किसी व्यक्ति की सेवा या कार्य से प्रसन्न होकर उन्हें किसी काम के बदले नकद रकम न देकर कुछ प्रदेश जागीर के रूप में दे देते थे। उस प्रदेश का सम्पूर्ण राजस्व या राज्यांश उस व्यक्ति को ही मिलता था और उसमें आने वाली बाधाओं से निपटने के लिये उस व्यक्ति को सम्पूर्ण अधिकार प्रदान किये जाते थे। जागीरदारों की यह प्रथा मुस्लिमकालीन ग्रामीण व्यवस्था का एक मुख्य अंग और विशेषता थी।[3] किसी पिछली सेवा के बदले किसी व्यक्ति को या विद्वानों, कलाकारों, योद्धाओं और पहलवानों को अपने जीवन यापन के लिये जो जमीनें दी जाती थीं, उन्हें वक्फ कहा जाता था तथा प्राप्तकर्त्ता को वक्फदार की संज्ञा दी जाती थी। जागीरदारों को भविष्य में सेवा की शर्त थी, परंतु वक्फदारों के मामले में ऐसी बाध्यता नहीं होती थी। कई बार ऐसा भी होता

था कि जब किसी व्यक्ति को किसी सूबे की मालगुजारी वसूल करने का काम सौंपा जाता था, तो इसके साथ शासक द्वारा एक समझौता होता था कि वह एक निश्चित धनराशि शासक को देगा, उसकी वसूली कम हो या अधिक ऐसे सुबेदार अपने किसानों से भी इसी प्रकार का समझौता करते थे। इस व्यवस्था ने सटोरियों और मध्यस्थों को बढ़ावा दिया। अधिकाधिक रकम देने वाले की नियुक्ति ही सूबेदार के घर पर होती थी और वह भी अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिये उन्हीं किसानों को भूमि देता था, जो लगान के रूप में बड़ी रकम ले सकते थे। इस प्रकार इस सीरदारों का जन्म हुआ जो या तो काफी ज्यादा भूमि पर खेती करते थे या काफी बड़ा क्षेत्र लेकर उसे छोटे किसानों में बांटकर मनमाना लगान वसूल करते थे।

राज्यांश राजा कर्मचारी द्वारा निर्धारित या तो गल्ले के रूप में या उसकी कीमत के रूप में लिया जाता था, परंतु मध्यस्थ को हमेशा शासन की ओर से पारिश्रमिक नगदी के रूप में ही उपलब्ध था। यह स्पष्ट नहीं है कि मुद्रण में लगान देना कब प्रारम्भ हुआ, परंतु दिल्ली के आस पास के क्षेत्रों में रहने वाले किसान 13वीं शताब्दी में ही मुद्रास में लगान देने लगे थे। बरनी के विवरण के अनुसार अलाउद्दीन खिलजी ने उपज का आधा भाग लगान के रूप में लेना प्रारम्भ कर दिया था। और अधिकांश राजस्व नकद के रूप में ही लिया जाता था। साथ ही वह स्वयं भी अधिकांश पुरस्कार नगद ही देता था, क्योंकि उसे सदैव जागीरदारों के संगठित होकर विद्रोह करने का भय सताता रहता था। भारत में राजस्व प्रणाली के इतिहास में अकबर के शासन काल में टोडरमल द्वारा निर्धारित प्रणाली तथा लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा निर्धारित स्थायी भूमि प्रबंध प्रणाली का विशेष महत्व है तथा उसके बाद ही राजस्व वसूली की सभी व्यवस्थाऐं इन्हीं दोनों की व्यवस्थाओं पर आधारित हैं।

अकबर के लम्बे शासन काल में राजस्व वसूली की मुख्यतः तीन प्रणालियां हमें देखने को मिलती है। प्रारंभिक दिनों में अधिकांश भूमि जागीरों के रूप में सरदारों में बँटी हुई थी और राज्य इन जागीरदारों के माध्यम से ही भूमि का राजस्व वसूल करता था। दूसरी प्रणाली अकबर के सत्ता को वास्तविक रूप से अपने हाथ में संभालने के बाद लागू हुई तथा इसे कानूनगो कहा जाता था। इसमें हर कानूनगो अपने परगने की उपज की सूचना उस शक्ल में देता था, जो पहले से व्यवहार में होती थी और यह भी बताता था कि अन्न के बारे में कितनी लगान ली जाय। इस बीच साम्राज्य का निरन्तर विस्तार होता जा रहा था। गल्ले को सिक्कों के रूप में परिवर्तित करने में काफी समय लग जाता था और समान की मांग भी प्रदेशों में काफी देर से पहुंच पाती थी। इससे जागीरदार और खेतिहर दोनों ही दुखी थे।[4] साथ ही अकबरनामा के अनुसार स्थान स्थान से मुकद्दम नैतिकता का ख्याल न करके मनमानी कर रहे थे, जिससे भ्रष्टाचार को प्रश्रय मिल रहा था। इससे परेशान होकर अकबर ने टोडरमल के परामर्श से एक नयी व्यवस्था लागू की, जिससे दसवर्षीय व्यवस्था का नाम दिया गया।[5] इस व्यवस्था में पहले के कमियों को दूर कर अनाज की कीमतों और उनके मुद्रा में अदला–बदली की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया तथा लगान का निर्धारण सीधे सिक्कों में होने लगा। अकबर के लम्बे शासन काल के प्रारम्भ में तो जागीरों और जागीरदारों का उल्लेख मिलता है, परंतु कुछ सूबे ऐसे भी थे, जो रक्षित प्रदेश कहे जाते थे और उनका प्रबंध तथा लगान वसूली की जिम्मेदारी सीधे केन्द्रीय शासन पर थी। तथा इस हेतु मुहस्सिलों की नियुक्ति की गईं रक्षित प्रदेशों के अतिरिक्त जागीरदारों के कुप्रबन्ध से अप्रसन्न होकर जागीरदारी व्यवस्था समाप्त कर दी गई। यह योजना सम्पूर्ण साम्राज्य में लागू की गई, परंतु 5 वर्ष पश्चात् जागीरदारों के पुर्नस्थापन के पश्चात् रक्षित प्रदेशों को छोड़कर अन्य स्थानों पर यह प्रथा समाप्त कर दी गयी। अतः भारत में प्रथम संगठित राजस्व व्यवस्था कें अंतर्गत कुछ भागों को छोड़कर शेष भागों में जागीरदारी प्रथा के वर्चस्व का ही उल्लेख मिलता हैं परंतु सारे राजस्व व्यवस्था की सीधे राज्य द्वारा वसूली सम्भव नहीं थी। अतः विवश होकर पुनः जागीरदारी व्यवस्था को लागू करना पड़ा। एक प्रजापालक सम्राट होने के नाते अकबर ने मुहस्सिलों को आदेश दे रखा था कि वे जिस परगने में रहें, वहां की कृषि की भली भांति जानकारी रखें, तथा साथ ही किसानों को यथासम्भव सहायता देकर उनकी प्रति बीघा उपज बढ़ायें तथा उन्हें समझाकर इस बात के लिये तैयार करें कि खाली पड़ी भूमि के अधिकांश को वह जोत लें। यही आशा जमींदारों से की जाती थी परंतु यह आशा पूरी नहीं हो रही थी और जागीरदार अधिक से अधिक धन स्वयं वसूल करने के प्रयत्न में रहते थे। उन्हें कृषि एवं किसानों के विकास की कोई चिन्ता नहीं थी। अतः जहां पर भूमि तथा राजस्व व्यवस्था पर सीधा केन्द्रीय नियंत्रण था, वहीं पर जमींदारों के किसान जगीारदार के अपने लाभ उठाने के चक्कर

में दुखी थे, क्योंकि वहां कृषि के विकास के लिये न तो कुछ हो रहा था, और न किसानों द्वारा स्वतंत्र रूप से कुछ करना सम्भव था। इस कारण जागीरों के किसान असंतुष्ट और क्षुब्ध थे तथा यह असंतोष छिटपुट ढंग से प्रकट भी हो रहा था। जागीरों की यह प्रथा मुगल काल के अन्त तक उसी रूप में चलती रही और जब केन्द्रीय शासन कमजोर होता गया तथा सूबेदार स्वेच्छाचारी होते गये, उन्होंने भी अपने साथ गाँवों के सम्पन्न वर्ग को जोड़े रखने के लिये इसमें कुछ भी परिवर्तन करना उचित नहीं समझा।

ईस्ट इण्डिया कम्पनी को जब बंगाल की दीवानी प्राप्त हो गई तो उसने व्यवस्था में तुरन्त कोई परिवर्तन नहीं किया तथा सबसे अधिक बोली लगाने वाले को 5 वर्ष के लिये जमीन दे दी जाती थी।[6] इससे बहुत सी जमीन बिना बोये पड़ी रहती थी। मालगुजारी ज्यादा होने के कारण अधिकतर ठेकेदार उसे जमा करने में असमर्थ होते थे तथा जमीन इनके हाथ से निकल जाती थी। इस प्रकार स्वामित्व के जल्दी जल्दी बदलने के कारण कृषि की व्यवस्था बहुत ही चिन्ताजनक हो गयी। इससे जमींदार, कृषक और कम्पनी तीनों को ही भारी नुकसान उठाना पड़ता था। बाद में यह पांच वर्षो की व्यवस्था बदल दी गयी तथा एक वर्ष के लिये नीलामी होने लगी। इन समयबद्ध व्यवस्थाओं की बुराइयों को देखते हुये कम्पनी के अफसरों में हमेशा के लिये व्यवस्था के पक्ष में राय बनने लगी और कार्नवालिस द्वारा 1793 में स्थायी भूमि प्रबंध लाया गया। इस समय भूमि के स्वामित्व को लेकर कम्पनी के उच्च राजस्व अधिकारियों में मतभेद था। जान शोर का मत था कि जमींदार ही भूमि के वास्तविक स्वामी हैं और सरकार इनसे ही परम्परागत राजस्व वसूलने की अधिकारी है। इसके विपरीत ग्रान्ट का मत था कि सरकार ही सारी जमीन की स्वामी है और तब इसका बन्दोबस्त जमींदार या सीधे किसान किसी के साथ करने को स्वतंत्र है। इंग्लैण्ड में कम्पनी के अधिकारियों ने शोर के दृष्टिकोण को मान्यता प्रदान की और जमींदारों से ही व्यावहारिक रूप से समझौता करने को कार्नवालिस से कहा।[7] यह व्यवस्था पहले दस वर्षो के लिये होनी थी, जिसे बाद में स्थायी रूप दिया जाता था। इसी बीच कार्नवालिस के मत में स्पष्ट परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा और वह पहले के दस वर्ष के प्रबंध के स्थान पर प्रारम्भ से ही स्थायी भूमि व्यवस्था का पक्षधर हो गया तथा इसी प्रकार की व्यवस्था करने की आज्ञा दी। 1790 को कार्नवालिस ने दस वर्षीय भूमि प्रबंध की घोषणा की, जिसे कम्पनी के बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की अनुमति मिल जाने के बाद स्थायी भूमि प्रबंध के रूप में परिवर्तित हो जाता था। यह स्वीकृति उसे 1793 में प्राप्त हो गयी तथा तभी से नयी व्यवस्था का प्रारम्भ हुआ, जिसके अनुसार जमींदार भूमि के स्थायी स्वामी मान लिये गये। कार्नवालिस ने यह प्रबंध दृढ़तापूर्वक बंगाल और बिहार के पूरे सूबों तथा उत्तर प्रदेश के बनारस राज्य के गाजीपुर, बलिया, जौनपुर और मिर्जापुर के कुछ भागों में लागू किया। भारत के अन्य क्षेत्रों में अन्य तरह के भूमि बन्दोबस्त थे। कार्नवालिस के पश्चात स्थायी भूमि प्रबन्ध के बारे में अन्य गवर्नर जनरलों ने कोई उत्साह नहीं दिखाया, परंतु सिद्धान्त रूप से सदैव कम्पनी का बोर्ड तथा सरकार इसके पक्ष में रहे। यद्यपि मिल ने कहा कि जमींदारों के साथ स्थायी बन्दोबस्त की समस्या दीर्घकाल में बुरा सौदा साबित होगी, परंतु 1862 ई. तक सरकार इस विषय पर प्रतिबद्ध हो चुकी थी। 1862 में सर चार्ल्सवुड ने यह निर्णय लिया कि जितनी जल्दी सम्भव हो, यह व्यवस्था पूरे देश में लागू कर दी जायेगी।[8] 1862 में ही भारत सचिव ने पूरे देश में मालगुजारी के स्थायी बन्दोबस्त के विषय में सरकार तथा स्वीकृति देने के निर्णय की घोषणा की। इस संबंध में अगले दशक में बहस होती रही और सरकारी अधिकारियों की इस संबंध में धारणा तेजी से कम होती गयी क्योंकि इससे राजस्व का स्थरीकरण हो जाता था और भूमि से और ज्यादा लाभ की सम्भावनाएं हो गयीं थीं। 1865 में भारत सचिव ने यह शर्त लगायी कि इन सभी जायदादों में जहां कृषि योग्य क्षेत्र में 80 फीसदी भाग पर वास्तव में खेती होती है, तत्काल स्थायी भूमि प्रबंध लागू कर दिया जायेगा। 1875 में पश्चिमोत्तर प्रान्त में स्थायी बन्दोबस्त स्थगित करने का निर्णय किया गया और अन्त में 1883 में देश के अन्य भागों में इस योजना को लागू करने का विचार अंतिम रूप से छोड़ दिया गया।

जनसंख्या का जमीन पर तेजी से बढ़ते दबाव और ग्रामीण लघु उद्योगों का विनाश होने के कारण तेज़ी से असंतोष बढ़ रहा था तथा जमीन तेजी से छोटी एवं अलाभकर जोतों में बँटती जा रही थी और किसान तेजी से भूमिहीन होते जा रहे थे। भूमिहीन मजदूरों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी। दोषपूर्ण भूराजस्व व्यवस्था को चलाने के लिये बनाये गये कानून जीमंदारों और भू–स्वामियों के पक्ष में थे और उनकी आड़ में जमींदार किसानों का मनमाना शोषण कर रहे थे। इस शोषण और बेगार से इंकार

करने पर किसानों को जमीन से बेदखल करने की धमकियां दी जाती थीं तथा ब्रिटिश सरकार भी तथा सरकार की व्यवस्था भी उनके पक्ष का समर्थन करती थी। भूमि पर अधिकार न होने, छिनते जाने, ब्रिटिश शासन द्वारा जमींदारों के पक्ष में निर्मित भू राजस्व व्यवस्था तथा कानून, ग्रामीण ऋणग्रस्तता तथा जनसंख्या के दबाव तथा ग्रामीण उद्योगों के विनाश के कारण भूमि पर भार बढ़ता जा रहा था। इससे तीव्रता से असंतोष पैदा हो रहा था और भूमि से उनको कोई भी सामाजिक एवं आर्थिक सुरक्षा नहीं प्राप्त हो रही थी। इन कारकों से देश को अकालों की विभिषकाऐं देखनी पड़ रही थी। रोजगार का कोई वैकल्पिक साधन उपलब्ध नहीं था और जमींदारों तथा ब्रिटिश अधिकारियों का शोषण और अत्याचार बढ़ता जा रहा था। सरकार को भी अपने बढ़ते हुऐ राजस्व की भी चिन्ता थी, न कि कृषि की उन्नति की। इसलिये अधिकांश किसान या तो भूमिहीन था या वर्ष के अधिकांश समय बेकार रहने को विवश था। अन्य कोई रोजगार न होने के कारण वह अपने श्रम का कोई और सार्थक उपयोग नहीं ढूंढ पा रहा था। इन्हीं कारणों से किसानों में असंतोष बढ़ता जा रहा था, जिसने कई स्थानों पर स्वयं स्फूर्त संघर्षों का रूप ले लिया।

संदर्भ :

1. मोरलैण्ड, डब्ल्यू. एच., मुस्लिम भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था (अनु. कमलाकर तिवारी), पृ. 19
2. वही, पृ. 22
3. वही, पृ. 24
4. अबुल फजल आइने अकबरी (अनु. ब्लाखमैन), पृ. 947
5. अबुल फजल, अकबरनामा, भाग 3, पृ. 282
6. मजूमदार, राय चौधरी, दत्त, ऐन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग–3, पृ. 785
7. देसाई, ए.आर; सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलिज्म, पृ. 38–39
8. भट्टाचर्य, सव्यसांची, ब्रिटिश राज्य के वित्तीय आधार, पृ. 35–36

पूँजीवादी एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा की भूमिका

डॉ0 विमलांशु शेखर पाठक
असिस्टेंट प्रोफेसर, बी० एल० एन० एल०
बोहरा कॉलेज, राजमहल (झारखण्ड)

किसी भी अर्थव्यवस्था में मुद्रा महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। शास्त्रीय अर्थशास्त्रीयों जैसे Adam smith, J.B. Say, Wickstecd, J.s. Mill आदि का कहना था कि मुद्रा केवल विनिमय का साधन एवं माध्यम है। लेकिन आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने मुद्रा का महत्व सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के लिए प्राणवायी माना।

जहाँ तक पूँजीवादी अर्थव्यवस्था का प्रश्न है उसमें मुद्रा को एक महत्वपूर्ण भूमिका माना। चूँकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पत्ति के साधनों पर निजी व्यक्ति का स्वामित्व होता है। और आर्थिक क्रियाओं का संचालन मुनाफे के उद्देश्य से होता हैं।

पूंजीवादी अर्थव्यवस्था अनियोजित असंगठित एवं अनियंत्रित होती है। फिर भी मूल्य संयंत्र के माध्यम से सारी अर्थव्यवस्था संगठित एवं नियोजित रूप में कार्य करती रहती है। तथा उत्पादन एवं उपभोग के बीच सामंजस्य स्थापित होते रहते है। प्रायः मूल्य संयत्र को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया जाता है। अस्तु पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा को जीवन रक्त कहा जाता है।

अब एक सवाल उठता है कि मुद्रा अथवा मूल्य संयत्र के माध्यम से किस प्रकार उत्पादन एवं उपभोग में संतुलन कायम होता हैं जब उपभोक्ता किसी वस्तु की अधिक माँग करते है ऐसी अवस्था में उपभोग एवं उत्पादन में तभी समन्वय होगा जब उत्पादन में भी वृद्धि हो। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मूल्य संयत्र के द्वारा यह स्वतः हो जाएगा उपभोक्ता द्वारा जब वस्तुओं की माँग अधिक किया जाता है तो बढने से वस्तु का मूल्य बढेगा और मूल्य बढ़ने से उन वस्तुओं पर मुनाफा अधिक होगी और उत्पादक उत्पादन बढ़ा देगा – दूसरी ओर मांग धटने पर मुनाफा कम होती है और उत्पादक उत्पादन धटा देता है यह दोनों स्थिति मूल्य संयत्र के कारण बनता है इसप्रकार पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मूल्य संयत्र अनियोजित होते हुए भी मूल्य संयत्र के अदृश्य हाथो द्वारा नियंत्रित एवं संचालित होती है चूँकि मूल्य संयत्र को मुद्रा के रूप में व्यक्त किया गया है अतः पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा का महत्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है।

पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा के द्वारा विभिन्न उत्पादन के साधनों को पारिश्रमिक भुगतान किया जाता हैं। साथ ही बचत विनियोग साख आदि भी मुद्रा के माध्यम से ही निर्धारित होते हैं इस अर्थव्यवस्था में क्रय विक्रय लेन देन उधार आदि का आधार मुद्रा ही होती है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादन के लिए वस्तुओं का चयन एवं उत्पादन कितनी मात्रा में किया जाय इसके लिए मुद्रा के माध्यम से ही सरलतार्पूवक किया जा सकता है उत्पादन के साधनों को कैसे संगठित किया जाय तथा काम बहुल और पूंजी बहुल संगठन में से अधिक महत्व किसकों दिया जाय उसका चयन भी मुद्रा के द्वारा ही संभव होता हैं उत्पाद का मूल्य निश्चित करना भी मुद्रा के द्वारा ही संभव होता है। माँग के अनुरूप उत्पादन को बढ़ाना या घटाना उसी पर निर्भर करता है, जिन वस्तुओं का माँग अधिक होगी उसका उत्पादन उत्पादक के द्वारा अधिक किया जाता है और नये नये फर्म भी इसमें प्रवेश करते है मुनाफे को ध्यान में रखते हुए यह तव तक जारी रहता है जबतक की कीमत सीमांत लागत के समान नहीं हो जाती यह मूल्यांकन मुद्रा के द्वारा ही संभव होती है।

उपभोक्ता जिन वस्तुओं को अधिक खरीदता है उन वस्तुओं के बदले वह मुद्रा के रूप में भुगतान करता हैं और उत्पादक उन आय से उत्पादन के साधनों का संगठित कर उत्पादन के प्रक्रिया को संचालित करते हैं।

मुद्रा के माध्यम से ही उपभेक्ता को यह स्वतंत्रता प्राप्त होती है कि वह उन वस्तुओं पर उतना ही मुद्रा व्यय करती है जितना के उस वस्तु से उसे मुद्रा के बराबर सीमांत उपयोगिता प्राप्त हो दूसरी ओर उत्पादक का यह उद्देश्य होता है की अधिक से अधिक मुनाफा प्राप्त करना इसके लिए न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन कर मुनाफा अधिक से अधिक प्राप्त करना जो मुद्रा के द्वारा ही संभव होती है।

मुद्रा के माध्यम से ही पूँजी निर्माण संभव हो सका है। मुद्रा ही पूँजी के संचय में मदद कर पूँजी के निरंतर प्रवाह के द्वारा उधोग व्यापार का गति प्रदान करती है।

इस प्रकार हम देखते है कि पूँजी वादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक क्रियाओं के सफल संचालन तथा आधारभूत समस्याओं का सही समाधान मुद्रा के माध्यम से ही संभव है।

समाजवादी अर्थव्यवस्था

पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था के समान ही समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मुद्रा का महत्व समान्य ही होता है। समाजवादी अर्थव्यवस्था योजनावद्ध होती है इसमें उत्पत्ति के साधनों पर स्वामित्व सरकार की होती है तथा आर्थिक क्रिया का संचालन सामाजिक लाभ के उदेश्य से किया जाता है। कुछ समाजवादी विचारकों का मत है कि उस अर्थव्यवस्था में मुद्रा की कोई आवश्यकता नहीं हैं क्योंकि सभी आर्थिक क्रिया का संचार राज्य की और से योजना आयोग द्वारा किया जाता हैं मार्क्स तथा लेनिन जैसे समाजवादी विचारकों ने मुद्रा का विरोध करते हुए कहा कि पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण का मूल कारण मुद्रा है। लेकिन कुछ समय पश्चात इन विचारकों ने अर्थव्यवस्था के सफल संचालन के लिए मुद्रा के महत्व को स्वीकार किया।

प्रो0 हाम ने भी समाजवादी अर्थव्यवस्था में मुद्रा के महत्व को स्वीकार करते हुए कहा कि "यदि उत्पादन के लक्ष्य अधिनायक के द्वारा निर्धारित किये जाएँ तब भी इस लक्ष्यों के अनुसार आर्थिक साधनों का विभिन्न क्षेत्रों में वितरण मूल्य की प्रक्रिया के द्वारा ही निश्चित होगा क्योंकि इसी के द्वारा रोजगार के विभिन्न क्षेत्रों में उसकी तुलनात्मक उपयोगिता का अंदाज लगाया जा सकता है"।

वास्तव में सामाजवादी अर्थव्यवस्था में उत्पादित वस्तुओं का मूल्यांकन करना आवश्यक हो जाता है क्योंकि वस्तु के मूल्य निर्धारण के बिना समाजवादी अर्थव्यवस्था कुशलतापूर्वक कार्य नही कर सकती है। चूँकि मुद्रा के अभाव में उत्पादन के साधनों के बीच उसके पारिश्रमिक का भुगतान करना कठिन है। साथ ही पूँजी निर्माण करना भी कठिन है साथ ही अर्थव्यवस्था का विकास पूँजी निर्माण पर केन्द्रीत एवं निर्भर करता है। पूँजी निर्माण पर ही आय, बचत तथा विनियोग निर्भर करता है। साथ विदेशी व्यापार में भुगतान करने में मुद्रा का महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

इस प्रकार उत्पाद से प्राप्त मूल्य को उत्पादन के साधनों के बीच वितरित करने के साथ उपभोक्ता के बीच भी वितरण करना होता है जो मुद्रा के बिना संभव नहीं हैं।

समाजवादी अर्थव्यवस्था में भी मुद्रा एवं मूल्य संयत्र को बिल्कुल समाप्त नहीं किया जा सकता है इस अर्थव्यवस्था में भी मुद्रा लेखे की इकाई विनिमय का मध्यम तथा मूल्य का मापक का कार्य करती है। उपभोक्ता वस्तुओं के खरीद के साथ –साथ प्रति व्यक्ति आय, राष्ट्रीय आय का अंकलन भी मुद्रा के माध्यम से ही किये जा सकते है।

संदर्भ ग्रथ सूची :

1. डा0 सुमन– मौद्रिक अर्थशास्त्र
2. प्रो0 एल0 एन0 राय– मौद्रिक अर्थशास्त्र
3. एम0 सी0 वैश्य–मौद्रिक अर्थशास्त्र के सिद्धांत
4. एम0 एल0 झिंगन– समष्टि अर्थशास्त्र

व्यञ्जना विचारः

डॉ0 शशि मौलि नाथ पाण्डेय
विभागाध्यक्ष साहित्य
श्री बलदेवदास हनुमत् संस्कृत महाविद्यालय
उनुरुखाकुटी, सुलतानपुर

व्यञ्जनाविचारः

साहित्यशास्त्रे व्यञ्जनायाः एव प्राधान्यं वर्तते रसानुभूते– र्व्यञ्जनव्यापारमन्तरा अभावात्। काव्यप्रकाशे–

यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।।14।।

फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया।

नाभिधा समयाभावात् हेत्वभावान्न लक्षणा।।15।।

न प्रयोजनमेतस्मिन्न न च शब्दः स्खलद्गतिः।

इत्यादिकारिका व्यञ्जना निरूपिणे व्याख्यात वृत्तिकृता–कारिकाणाम् आशयः एवमुक्तः प्रयोजनम् उद्दिश्य तस्य प्रतिपादनेच्छया लक्षणा आश्रियते। अन्यथा प्रयोजनाभावे गङ्गायां घोषः इत्यनुक्त्वा गङ्गातटे घोषः इत्येव वक्तुमुचितं स्यात्। अत एव कारिकायां प्रयोजन प्रतिपिपादयिषया लक्षणायाः उपासनम् उच्यते। लक्षणायाः उपासनं नाम लक्षणया शब्दप्रयोगः। प्रयोजनञ्च शब्दादेव लाक्षणिकात् बोधितो भवति तस्य बोधनाय तत्र उपायान्तरं नास्ति अत एव फलस्य शब्दैकगम्यत्वमुच्यते कारिकायाम्। फलस्य शक्त्या लक्षणया वा प्रतिपादनं न भवति किन्तु व्यञ्जनाव्यापारेणेति प्रतिपाद्यते नाभिधा इत्यादिना न च शब्दः स्खलद्गतिः इत्यन्तेन वाक्यसमूहेन।

अयमाशयः– नाभिधा समयाभावात् इत्यत्र पञ्चम्यन्तस्य समयाभावात् इत्यस्य हेतुत्वं वर्तते। स च हेतुः फले शक्तेरभावं बोधयति पावनत्वादौ फले सङ्केतग्रहाभावात्। अभिधा हि सङ्केतग्रहसहायैवैपयुज्यते न तु स्वरूपसतीति टीकायाम् उच्यते। तस्यायमाशयः सर्वे सर्वार्थवाचकाः इति सिद्धान्तानुसारेण सर्वार्थनिरूपिता शक्तिः स्वरूपसती शब्दे तिष्ठतीति स्वीक्रियते। स्वरूपसती वर्तते इत्यस्य न कार्योपयोगिनी, नार्थोपस्थापिका इत्याशयः वक्तुं शक्यते। सङ्केतेन सर्वार्थव्यवच्छिन्ननियतार्थबोधकत्वं गृह्यते अतः सङ्केतग्रहसहायाया एव उपयोगः शाब्दबोधे न स्वरूपसत्याः। वृत्तौ इमममेवार्थ बोधयन्तः वृत्तिकाराः गङ्गायां घोषः इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दाः सङ्केतिताः इत्युक्तवन्तः।

हेत्वभावान्न लक्षणा इत्यस्यामाशयः मुख्यार्थबाधस्तद्योगो रूढिप्रयोजना– न्यरदिति त्रयं लक्षणाहेतुः तेषाम् अभावात् लक्षणया प्रयोजनस्य प्रतिपादनं न सम्भवति। हेतूनाम् अभावम् लक्ष्यं न मुख्यम् इति कारिकायां वदति ग्रन्थकारः। अत्र वृत्तिः– यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्ष्यति तद्वद्यदि तटेऽपि सबाधः स्यात् तत् प्रयोजनं लक्षयेत् इत्यादि रूपेण अस्यायममाशयः यदि लक्षणया प्रयोजनस्य प्रतिपादनम् भवेत् तर्हि मुख्यार्थबाधो वक्तव्यः तटश्च न मुख्योऽर्थः न वा अत्र बाधः वर्तते। तटस्यघोषाधि करणतायाः प्रसिद्धत्वात् न च गङ्गाशब्दार्थस्य तटस्य लक्षणया बोधितस्य पावनत्वाद्यैर्लक्षणीयैः सम्बन्धः वर्तते। पावनत्वादेर्गङ्गायां सत्वात् न च प्रयोजने लक्षणीये अन्यत् प्रयोजनं किमपि वर्तते यदुद्दिश्य लक्षणा भवेत्। अयं भावः यथा गङ्गायां घोषः इत्यत्र शैत्यपावनत्वादीनां प्रतीतये तटं लक्ष्यते तथैव यदि लक्षणया प्रयोजनस्य प्रतीतिः इष्यते तर्हि प्रयोजनान्तरं वक्तव्यम्।

न च शब्दः स्खलद्गतिः इत्यस्यायम् अर्थः। शब्दः गङ्गारूपः यथा तटं प्रतिपादयति तथैव प्रयोजनमपि प्रतिपादयितुं समर्थो न वर्तते मुख्यार्थबाधादित्रयस्याभावात्। यद्यपि शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः स्वीक्रियते तेन तटं प्रतिपाद्य विरतः शब्दः न पावनत्वादिकं लक्षयितुं समर्थो भविष्यतीति कथनं न समीचीनं प्रतिभातीति वक्तुं शक्यते प्रयोजने लक्षणीये शब्दस्य न विरम्यव्यापारः वक्तुं शक्यते तात्पर्यबोधनम् प्रयोजनलक्षणात् प्राक् न सम्भवतीति तस्य विरतेरभावात् प्रयोजनस्य बोधनन्तु व्यंजनारूप–व्यापारान्तरेणैव।

अस्तु मुख्यार्थबाधादिकम् अनपेक्ष्यैव यदि लक्षणा भविष्यतीति उच्यते तदा–

'एवमप्यनवस्था स्याद्या मूलक्षयकारिणीं इति'

कारिकांशेन अनवस्थादोष उच्यते। अनवस्थायाश्च मूलक्षयकरत्वम् उच्यते। यदि प्रयोजने लक्ष्णीये अन्यत् प्रयोजनं स्वीक्रियते तर्हि प्रयोजनान्तरस्याऽपि लक्षणीयत्येन प्रयोजनानन्तरं स्वीकारणीयम् एवं लक्षणापरम्परा न शाम्यति तथा च तटस्य ज्ञानम् अपि न भवितुम् अर्हति अनवसानात् तेन अन्तिमप्रयोजनज्ञानाभावात् प्रथमप्रयोजनमपि ज्ञातुम् अशक्यं भवति। अत्र वृत्तौ प्रकृताप्रतीतिकृदनवस्था उच्यते। तत्र प्रकृत शब्देन प्रस्तुतं घोषाधिकरणम् तटरूपम् उच्यते। तत्प्रकृतवचने मयट्।।5,4,21।। इति पाणिनि सूत्र व्याख्यायां सिद्धान्तकौमुद्यां प्राचुर्येणप्रस्तुतं प्रकृतमिति प्रकृत शब्दार्थः कृतो वर्तते। अत्र प्राचुर्येण प्रकृतं सर्वतः प्राधान्यतया लक्षणीयत्वेन प्रस्तुतं तटं वर्तते तस्य अप्रतीतिः अपाद्यते। कारिकायां तु मूलशब्देन तटप्रतीतेः उल्लेखो वर्तते मूलक्षयकारिणी इत्यत्र। पावनत्वादिविशिष्टं तटं लक्ष्यति गङ्गाशब्द इति तु न वक्तुं शक्यते पावनत्वादेः लक्षणाजन्य ज्ञानफलत्वात्। अयम् अर्थः–

प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।

ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ।।

इति कारिकायाम् विचारितो वर्तते। अत्र ज्ञानस्य विषयः अन्यः फलम् अन्यत् इत्यस्य अयम् अर्थः ज्ञानस्य जनकीभूतो विषयो यथा ज्ञानादन्यस्तथा फलमपि तस्य स्वतो भिन्नम्। कारणस्येव कार्यस्यापि भिन्नकालत्व नियमात् इति उक्तं काव्यप्रकाशटीकायां। तस्यायमाशयः– ज्ञानजनकीभूतोविषयः ज्ञानात् पूर्वतः विद्यमानः भिन्नः यथा भवति तथैवज्ञानस्य फलम् अपि ज्ञानात् पश्चाद्भावि भिन्नमेव कारणस्य विषयस्य भिन्नत्वमिव कार्यस्यापि फलस्य ज्ञानात् भिन्नत्वं वक्तव्यम् इत्यर्थः। एवं प्रयोजनसहिते विशिष्टे लक्षणा वक्तुं न शक्यते किन्तु पावनत्वादयोविशेषाः लक्षिते तटादौ बोधिताः स्युः। ते च अभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो भिन्नेन व्यापारेण गम्याः। स च व्यापारः व्यञ्जनध्वननद्योतनादिशब्दवाच्यः स्वीक्रियते। व्यञ्जना च लक्षणामूला अभिधामूला उभयविधा। भवति अर्थस्यापि व्यञ्जकता स्वीक्रियते। अर्थात् वाचकलाक्षणिकव्यञ्जकानाम् अर्थव्यञ्जकता स्वीक्रियते।

व्यञ्जनम् व्यक्ती करणम् तच्च तटत्व विशिष्ट तटे शैत्यपाननत्व युक्तत्वस्य बोधनम्। तटं हि तटत्व धर्म विशिष्टत्वेन पूर्वतः ज्ञातम् लक्षणया बोधानन्तरं शैत्यपावनत्वादि विशिष्टत्वेनाऽपि बोधितं भवति। अतएव ''यस्य प्रतीतिमाधातुम्'' इति कारिकायाम् आधातुम् इति शब्दस्य प्रयोगोऽपि युक्तो भवति। अग्न्याधानाधि शब्देषु अग्नेः आधानम् स्थापनम् इत्यर्थो बोध्यमानः अग्नेः स्थलविशेषे अपूर्वतया स्थापनम् बोधयति अनग्निमति देशे अग्नेः प्रक्रियाविशेषपूर्वकम् स्थापनम् अग्न्या धानम् उक्तं भवति यथा तथैव प्रतीतिमाधातुम् इति कथनेन् नूतन रूपेण तटस्य प्रतीतिः प्रतिपादिता भवति। इयं नूतन रूपेण प्रतीतिः पूर्वं केवल तटत्व प्रकारतया प्रतीतस्य इदानीम् तस्यैव शैत्यपावनत्वरूपेण प्रतीतिः उच्यते। यद्यपि तटस्य प्रतीतिः इदानीम् अपि तटत्व प्रकारिका वर्तते तथाऽपि इदानीम् शैत्यपावनत्वादेः प्रतीतिः अधिका भवति। कारिकायाम् यस्य इत्यत्र प्रकृति भूतेन यच्छवदेन् फलस्यशैत्यपावनत्वादेः ग्रहणं भवति तेन् शैत्यपावनत्वविशिष्ट तटस्य प्रतीतिः लक्षणया भवति इति सूच्यते।

लक्षणा, मुख्यार्थ बाधादित्रयम् अपेक्ष्य शैत्यपावनत्वादि विशिष्टं तीरं बोधयति। प्रयोजनं शैत्यपावनत्वादेस्तटे प्रतीतिरूपं व्यञ्जनया बोधितं भवतीति प्रतीयते अत एव काव्य प्रकाशे उच्यते– ''प्रयोजनप्रतिपादयिषया यत्र लक्षणया शब्दप्रयोगस्तत्र नान्यतस्तत्प्रतीतिरपि तु तस्मादेव शब्दात्। न चात्र व्यञ्जनादृतेऽन्यो व्यापारः।'' अत्र स्पष्टतया इदम् प्रतिपादितं वर्तते यत्र प्रयोजनप्रतिपादनार्थम् लक्षणया शब्दप्रयोगः क्रियते तत्र तस्मादेव शब्दात् प्रयोजनस्य प्रतीतिर्पवति तेन इदम् उक्तं भवति गङ्गायाम् घोष

इत्यत्र गङ्गा शब्द एव लक्षणया तीरं व्यञ्जनया शैत्य पावनत्वं च प्रतिपादयति। व्यञ्जनायाः अन्यः कोऽपि व्यापारः गङ्गाशब्देन तीराश्रितं शैत्यपावनादिकम् प्रतिपादयितुम् वक्तुम् न शक्यते इति ''नाभिधा समयाभावात्'' इत्यतः आरभ्य विशिष्टे लक्षणानैवम् विशेषाः स्युस्तु लक्षिते इत्यन्तेन ग्रन्थेन उच्यते। एतद् वर्णनस्य अयम् अभिप्रायः– लाक्षणिक शब्दप्रयोगस्य प्रयोजनभूतम् शैत्यपावनत्वादेः तटादौ प्रतीत्यादिकम् गङ्गाशब्देन अभिधया कर्तुम् न शक्यते। तटादि गते शैत्यपावनत्वादौ गङ्गाशब्दस्य सङ्केताभावात्। एवम् लक्षणयाऽपि गङ्गाशब्दतः शैत्य पावनत्वादेः प्रतीतिः भवितुम् नार्हति 'मुख्यार्थ बाधादि त्रय रूपस्य हेतो भावादिति यतः मुख्यार्थबाधादि हेतु त्रयेण तीरं बोधितम् भवति तद्वत् गङ्गाशब्देन शैत्य पावनत्यादि बोधने तु हेतु त्रयस्य योजनम् कर्तुम् न शक्यं भवति। अतएव उच्यये ''न च शब्दः स्खलद्गतिरिति'' एतदेव प्रतिपादयितुम कारिकायाः वृत्तौ उच्यते– यथा गङ्गाशब्दः स्रोतसि सबाध इति तटं लक्षयति तद्वद्यदि तटेऽपि सबाधः स्यात्तत्प्रयोजनं लक्षयेत्।

किञ्च प्रयोजने न सहितस्य तीरस्य लक्षणा जन्यज्ञानविषयत्वं न भवितुम् अर्हति। यतः ज्ञानस्य विषयस्य तस्य फलेन सः भेदो भवति मित्रकालताऽपि भवति। तटे शैत्य पावनत्वादि प्रतीतिः लक्षणाजन्य ज्ञानस्य फलम् वर्तते। तटन्तु लक्षणाजन्य ज्ञानस्य विषयो वर्तते। अतएव विशिष्टे लक्षणा निषिध्यते लक्षिते तीरे च शैत्यपावनत्वादि विशेषाणाम् प्रतीतिः उच्यते।

शिक्षा : मानव जीवन और समाज की महत्वपूर्ण कड़ी

प्रो0 (डॉ0) सुभाष चन्द्र सिंह
विभागाध्यक्ष, समाजशास्त्र
शेरशाह कॉलेज, सासाराम, बिहार

मानव द्वारा आदिकाल से ही ज्ञान का संचय किया जाता रहा है। इसलिए नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी द्वारा कुछ ज्ञान सामाजिक विरासत में प्राप्त होता है और कुछ वह स्वयं भी ज्ञान में वृद्धि करता है। मानव की प्रत्येक पीढ़ी में सीखने की प्रक्रिया और हस्तान्तण द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती रही है। ज्ञान की परम्परात्मक श्रृंखला ही शिक्षा है जिसके द्वारा मानव ने अपनी मानसिक, आध्यात्मिक और सामाजक प्रगति की है। शिक्षा ने ही मानव को पशु स्तर से ऊंचा उठाया है और श्रेष्ठ सांस्कृतिक प्राणी बनाया है। चीनी संत कनफयूशस ने कहा था, अज्ञानता एक ऐसी रात्रि के समान है जिसमें न चांद है न तारे। शिक्षा का उद्देश्य ज्ञान रूपी प्रकाश को प्राप्त कर अज्ञान रूपी अंधेरी रात्रि के अंधकार को दूर करना है। शिक्षा के अभाव में ज्ञान और विज्ञान दोनों का अभाव होगा। ज्ञान एवं सांस्कृतिक विरासत के हस्तान्तरण का कार्य शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान और सामाजिक सांस्कृतिक विरासत को हस्तान्तरित करने वाली संस्थाएँ शिक्षण संस्थायें कहलाती है।

संकीर्ण अर्थ में शिक्षा का तात्पर्य पुस्तकीय ज्ञान और लिखने–पढ़ने से लिया जाता है। व्यापक दृष्टि से शिक्षा का तात्पर्य सभी प्रकार के ज्ञान संग्रह तथा मानव ने चहुमुंखी विकास से लिया जाता है।

दुर्खीम के अनुसार शिक्षा अधिक आयु के लोगों द्वारा ऐसे लोगों के प्रति की जाने वाली क्रिया है जो अभी सामाजिक जीवन में प्रवेश करने के योग्य नहीं है। इसका उद्देश्य शिशु में उन भौतिक, बौद्धिक और नैतिक विशेषताओं का विकास करना है जो उसके लिए सम्पूर्ण समाज और पर्यावरण से अनुकूल करने के लिए आवश्यक है।[1] इस प्रकार दुर्खीम शिक्षा को मानव के भौतिक, बौद्धिक एवं नैतिक विकास तथा पर्यावरण से अनुकूलन का एक साधन मानते हैं। शिक्षा प्रदान करने का कार्य सदैव बड़ी आयु एवं पुरानी पीढ़ी के लोगों द्वारा किया जाता है।

समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास एवं निर्माण होता है।

शिक्षा का प्रमुख कार्य मानव ज्ञान एवं बुद्धि का विकास करना है। वह मानव मस्तिष्क का विकास करती है, ज्ञान के द्वार खोलती है, मनुष्य को चिन्तनशील बनाती है। शिक्षा मानव में नैतिक गुणों जैसे सहयोग, सहिष्णुता, दया, ईमानदारी आदि का विकास करती है। शिक्षा का कार्य चरित्र निर्माण भी है। शिक्षा का एक प्रमुख कार्य मानव संस्कृति का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण करना है। इसके अभाव में मानव संस्कृति कभी भी समृद्ध और प्रगतिशील नहीं हो पाती। आदर्शों, मूल्यों, प्रथाओं एवं लोकाचारों के रूप में सांस्कृतिक विरासत को शिक्षा द्वारा ही आने वाली पीढ़ियों को हस्तान्तरित किया जाता है। शिक्षा का एक कार्य व्यक्ति को परिस्थितियों के साथ अनुकूल करने में सहयोग प्रदान करना है। शिक्षा व्यक्ति को समाज एवं परिस्थितियों के अनुरूप बनाकर सामाजिक विघटन को रोकती है और नियंत्रण बनाए रखने में योग देती है। शिक्षा का एक कार्य मानव को सभ्य एवं सुसंस्कृत प्राणी बनाना है। शिक्षा मानव को सभ्य बनाकर उसे नियंत्रित जीवन व्यतीत करने में सहयोग देती है।

शिक्षा मानव को आर्थिक संरक्षण भी प्रदान करती है। वर्तमान शिक्षा को अधिकाधिक व्यवसायोन्मुख बनाया जा रहा है। आज ज्ञान केवल ज्ञान के लिए को ही पर्याप्त नहीं माना जाता। अब तो शिक्षा व्यक्ति को आर्थिक ज्ञान एवं प्रशिक्षण देकर अपना तथा अपने आश्रितों का भरण–पोषण करने योग्य बनाती है। आज उस परीक्षा को अपूर्ण माना जाता है जो व्यक्ति को रोटी–रोजी कमाने के लिए

तैयार नहीं करती। आर्थिक समस्या मानव की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या से मुक्ति दिलाने पर ही शिक्षा वास्तव में मानव को स्वतंत्रता एवं मुक्ति प्रदान कर सकती है। आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त समाज विघटित होने लगता है और उसमें नियंत्रण बनाये रखना एक कठिन समस्या हो जाती है। स्पष्ट है कि शिक्षा व्यक्ति को आर्थिक संरक्षण प्रदान कर सामाजिक नियंत्रण बनाए रखने में महत्वपूर्ण योग देती है।

बदलते हुए सामाजिक परिप्रेक्ष्य में भारतीय महिलाओं ने शिक्षा क्षेत्र में केवल पदार्पण ही नहीं किया है बल्कि वे विकास की दिशा में कदम भी बढ़ा रही है। नगरीय महिलाएँ तो अधिकतर शिक्षित होती ही है। शिक्षा के निरन्तर प्रसार के साथ ही साथ ग्रामीण लड़कियाँ व महिलाएँ भी शिक्षा के प्रति जागरूक हो गयी है। महिलाओं का शिक्षित होना न केवल अपने परिवार तथा बच्चों के लिए बल्कि समाज के लिए भी महत्वपूर्ण हो गया है। शिक्षा ने ही नारी को इस योग्य बनाया है कि वह समाज के प्रत्येक क्षेत्र में पदार्पण कर चुकी है और समाज के अनेक संगठनों के साथ जुड़ चुकी है।

शिक्षा का वास्तविक अर्थ है व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास। शिक्षा का उद्देश्य है उचित और अनुचित में अंतर कर सकना। यह सही मार्ग दिशा का निर्धारण करती है। शिक्षा से आत्मिक बल मिलता है, नैतिकता का स्तर ऊंचा उठता है तथा आदर्श चरित्र निर्माण की संभानाएँ बढ़ जाती है। एक शिक्षित व पढ़ी–लिखी महिला से परिवार व समाज को कई आशाएँ व अपेक्षाएँ रहती हैं।

परन्तु शिक्षित भारतीय महिलाएँ पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण कर अपने आदर्श मार्गों से विचलित होती जा रही है। आज वह शिक्षित होकर भी अपने परिवार को संगठित कर सकने में योगदान नहीं दे पा रही बल्कि उसके आधुनिक कहे जाने वाले परिवार दिन पर दिन विघटित होते जा रहे हैं। शिक्षा ने शायद उसे भटका दिया है लेकिन ऐसा है नहीं, वह शिक्षा का सही मायने में उपयोग नहीं कर पा रही है। अक्सर नारी शिक्षा के आगे यह प्रश्नचिन्ह लगा रहता है कि वह पढ़–लिखकर क्या करेगी? उसे तो बस पारिवारिक सीमाओं में बंधकर रह जाना है। लेकिन ऐसा समझना भूल होगी। उसे तो पढ़–लिखकर एक सुसंस्कृत नारी की भाँति घर की व्यवस्था और संचालन अपेक्षाकृत अच्छे ढंग से करना है लेकिन वह ऐसा नहीं कर पा रही है। उसकी असफलताओं से वह घिरती जा रही है।

यदि शिक्षित महिलाएँ आर्थिक रूप से भी घर के संचालन में सहयोग करती है तो यह एक अच्छी बात है लेकिन उसे फिर दोहरी भूमिका निभानी पड़ती है जो एक दुष्कर कार्य तो है ही। यदि वह सही ढंग से दोहरी भूमिका अदा करने में सामंजस्य नहीं स्थापित कर पाती तो वह टूट जाती है। उसका व्यक्तित्व बिखर जाता है।

पारिवारिक जीवन में तालमेल बिठाए रहना, वैवाहिक संबंधों में दरार न पड़ने देना तथा बाहरी दुनिया को भी बारीकी से समझना तथा उसके साथ उचित अनुकूलन कर जीवन निर्वाह करना ही ऐसी कुछ महत्वपूर्ण भूमिकायें एक शिक्षित नारी के सम्मुख मुँह बाये खड़ी है। उसके लिए चुनौतियाँ हैं, जिसे उसे ही सामना करना है। दिन पर दिन पारिवारिक संघर्षों में वृद्धि होती जा रही है, कारण यह है कि शिक्षित होकर उसे अधिक संयम, सहनशीलता, सेवा, आदर व त्याग की भावना से काम लेना चाहिए लेकिन वह ऐसा नहीं कर पा रही है। ऐसा लगता है कि जैसे शिक्षा ने उसके व्यक्तित्व को अलग लाकर खड़ा कर दिया है। बजाए इसके कि वह वैवाहिक जीवन सुखी बनाए, वैवाहिक संबंधों में तेजी से दरार पड़ जाती है। संबंध टूट जाते हैं। फलतः तलाक में वृद्धि होती जा रही है।

एक अशिक्षित महिला तो अपने घर में दबकर रहती है। जन्म से लेकर मृत्यु तक पारिवारिक तथा सामाजिक बंधनों में जकड़ी रहती है। उसको किसी मामले में दखल देने का अधिकार नहीं था, वह स्वतंत्र नहीं थी और न ही उसे समानता का दर्जा मिला था। शिक्षा ने उसे स्वतंत्र किया है, सामाजिक बंधनों से मुक्त किया है तथा समानता के स्तर पर पहुँचा दिया है। जिसका परिणाम यह हुआ है कि विवाह से पूर्व बंधन भी अब कमजोर होते जा रहे हैं। स्वयं वर का चुनाव करने लगी है। विवाह से पूर्व

'ब्वाय फ्रैंड' बनाने लग गयी है। मुक्त यौन संबंध तो एक फैशन सा बनता जा रहा है। चाहे वह विवाह के पूर्व हो या उसके बाद जिससे उनका पारिवारिक तथा वैवाहिक जीवन नष्ट हो जाता है। समाज की नयी पीढ़ी के लोग इन सब बातों को सामान्य जीवन का अंग मानने लगे हैं तथा यह सब नारी की प्रगति का सूचक व प्रतीक बनता जा रहा है।

महिलाओं में शिक्षा का प्रसार, आर्थिक आत्मनिर्भरता, राजनैतिक स्वतंत्रता, पुराने धार्मिक मूल्यों में शिथिलता, जातीय बंधन से उन्मुक्तता, सांस्कृतिक प्रतिमानों का प्रभाव भी होना, महिलाओं में राजनैतिक चेतना का विकास होना एवं उनके सोचने और समझने की बौद्धिक क्षमता में वृद्धि होना तथा पुरुषों के समान समाज में सामाजिक एवं संवैधानिक अधिकार प्राप्त होना, आदि अनेक कारण हैं, जिसके परिणामस्वरूप महिलाओं में बहुत तेजी से परिवर्तन हो रहा है। महिलाओं में भी कई समूह हैं या दूसरे शब्दों में कई पीढ़ी की महिलाएँ समाज में एक साथ रहती हैं, जिनका आपस में वैचारिक विभेद है। जिसके कारण उनके सोचने और समझने की सीमाएं हैं। इसके साथ ही साथ आर्थिक तत्व भी महिलाओं में पीढ़ीगत संघर्ष का एक कारण है क्योंकि परिवार में आर्थिक स्रोतों पर नियंत्रण को लेकर भी महिलाओं में प्रायः संघर्ष देखने को मिलता है जिसका परिणाम व्यक्ति के पारिवारिक जीवन पर पड़ता है और व्यक्ति उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता है। पीढ़ीगत संघर्ष में जाति, आयु, शिक्षा, पारिवारिक स्वरूप, वैवाहिक स्थिति, आय आदि तत्व पीढ़ीगत संघर्ष को जन्म देते हैं, जिनका प्रभाव सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है और इसका प्रत्यक्ष प्रभाव परिवार पर पड़ता है। चूंकि व्यक्ति परिवार का जन्मजात सदस्य है इसलिए इसका सीधा प्रभाव मानव जीवन पर पड़ता है।

ऐसा प्रतीत होने लगा है कि शिक्षा ने नारी के लिए अर्थ खो दिया है। यद्यपि शिक्षा ने ही उसमें चेतना व जागरूकता फूँकी है, उसे अनेक अधिकारों से विभूषित किया है लेकिन फिर भी यह शिक्षा का सही ढंग से उपयोग नहीं कर पा रही है। उसे शिक्षित हो जाने के बावजूद भी प्रथम श्रेणी का नागरिक नहीं समझा जा रहा है। ऐसा केवल भारत में ही नहीं वरन् अधिक सम्पन्न और उन्नत देशों में भी है। यह उसी की ही कमजोरी है कि वह शिक्षित होकर भी अपने को सशक्त नहीं कर पा रही है। समूचे मानव समाज में उसके साथ आज भी अन्याय, शोषण, दुराचार व अत्याचार किया जा रहा है। नारी के विरूद्ध अपराधों में लगातार वृद्धि होती जा रही है। अतः शिक्षित महिलाओं का यह दायित्व बनता जा रहा है कि वे अपने विरूद्ध जुल्मों को समूल नष्ट करने का सामूहिक प्रयास करें तथा शिक्षा का उचित प्रयोग अपने व्यक्तित्व के समुचित विकास की दिशा में करें।

संदर्भ :

1. Desai, Nerra : Indian Women change and challenge in the International Decade (1975-85), Popular Prakashan, Bombay, 1985.
2. Desai Neera : Krishnaraj Maithreyi : Women and Society in India Sponsored by UNESCO. Regional Office, Bangkok (1986).
3. Everite Jana Malson : Women and Social change in India, Heritage Publishers, New Delhi, 1979.
4. Ghose S.K. : Indian Women through the ages Ashish Publishing House, New Delhi (1989).
5. Srivastav T.N. : Women and the law. Intellectual Publishing House, New Delhi (1989).
6. Ahuja Ram, Right of Women: A Feminist Perspective, Rawat Publications, Jaipur, 1992.
7. Altekar, A.S., The Position of Women in Hindu Civilization, Motilal Banarasi Lal, Varanasi, 1938 and 1956.
8. Barbara Ward (Ed.), Women in the New Asia, UNESCO, 1963.
9. Blumberg, R.L. and Dwarki, L., India's Educated Women: Options and Constraints, Hindustan Publishing Corporation, Bombay, 1980.
10. Chakraborty K., The Conflicting Worlds of Working Mothers, Progressive Publisher, Calcutta, 1978.

मन्नू भण्डारी की चुनी हुई कहानियों का विवेचनात्मक अध्ययन

अपराजिता मिश्रा
शोध–छात्रा
हिन्दी विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–221005

1. 'सयानी बुआ'

अनुशासन का महत्व जीवन में सदैव रहता है। अनुशासनहीनता जीवन के लिए दुःखद होती है। अनुशासन कड़े नियमों में बदल जाये तो भी ठीक नहीं होता फिर जीवन में भय और नीरसता की स्थितियाँ व्याप्त हो जाती हैं। मन्नू भंडारी ने इस कहानी की पात्रा 'सयानी बुआ' के माध्यम से उनकी पारिवारिक जीवन में व्यक्तियों पर ही नहीं हर छोटी से छोटी चीज और काम के प्रति भी कठोर नीतियों को दर्शाया गया है, ''देखो यह फ्राक मत खो देना, सात रुपए मैंने इसकी सिलाई दी है। यह प्याले मत तोड़ देना, वरना पचास रुपए का सेट बिगड़ जाएगा। और हाँ, गिलास को तुम तुच्छ समझते हो, उसकी परवाह ही नहीं करोगे, पर देखो, यह पन्द्रह बरस से मेरे पास है और कहीं खरोच तक नहीं है, तोड़ दिया तो ठीक न होगा।''[1]

अगले ही क्षण हिदायतों की फेहरिश्त देने के क्रम में पति को रूंधे गले से कहती है, ''कुछ अपना भी ख्याल रखना, दूध फल बराबर खाते रहना।''[2] और सबसे अन्त में फिर एक नई हिदायत के साथ बोल उठती है, ''जाने तुम लोग मेरे बिना कैसे रहोगे, मेरा तो मन ही नहीं मानता। हां बिना भूले रोज एक चिट्ठी डाल देना।''[3]

हर व्यक्ति अपने कुछ स्वाभाविक गुणों को लेकर पैदा होता है और यही गुण उसे पशुओं से भिन्न बनाती है। मनुष्य के कुछ गुण, उदारता, करुणा, साहस, सौहार्द और इसके अतिरिक्त रिश्तों के प्रति वफादारी भी इसका मुख्य गुण है, जो उसे महानता की श्रेणी में लाता है। 'सयानी बुआ' जो अपने अनुशासन के चलते अपनी कठोर छवि बनाकर रख चुकी हैं, जिनकी वजह से पति और बच्ची भी खुलकर साँस नहीं ले सकती। वहीं जब बीमार बच्ची को लेकर गये पति के पत्र में अपनी बच्ची के साथ अनहोनी होने को सोचकर ही बिखर पड़ती है। उन्हें यह पता चलता है कि बच्ची के साथ कुछ नहीं हुआ। बल्कि अनेक बार समझाकर दिये गये उनके सालों पुराने पचास रुपए का सेट टूट गया है, तब उन्हें अपनी गलती का एहसास होता है कि उन्होने अब तक कितनी बड़ी भूल की है कि रिश्तों और वस्तुओं में साम्यता बनाए रखी। पति द्वारा लिखा गया पत्र इस प्रकार है,''धैर्य रखना मेरी रानी, जो कुछ हुआ उसे सहने की और भूलने की कोशिश कल चार बजे तुम्हारे पचास रूपये वाले सेट के दोनो प्याले मेरे हाथ से गिरकर टूट गये। अन्नू अच्छी है। शीघ्र ही हम लोग रवाना होने वाले हैं।''[4]

2. 'पंडित गजाधर शास्त्री'

समाज मनुष्यों से मिलकर बना है। इसमें हर प्रकार के मनुष्य का अपना योगदान होता है। कुछ समाज के लिए कुछ ऐसा कर जाते हैं, जिससे समाज मे उनकी छवि ही नहीं स्थापित होती है बल्कि समाज का पूरा वर्ग भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। वहीं कुछ लोग ऐसे भी हैं जो समाज में अपने कारनामों और उस पर मियाँ मिटठू बनने में पीछे नहीं रहते हैं । भले समाज में रहने वाले प्राणी उन्हें ठीक ढंग से नहीं जानते हो फिर भी वे अपनी तारीफ किए बिना नहीं चुकते हैं। मन्नू भंडारी की कहानी 'पंडित गजाधर शास्त्री' में एक ऐसे ही व्यक्ति का उल्लेख किया गया है, जो अपना परिचय स्वयं करवाता है साथ ही अपनी लेखनी की तारीफ करने में भी नहीं चुकता है। वह लेखक से खुद को रू–ब–रू कराते हुए कहता है ''आपका शुभ नाम जान सकता हूँ'' मैंने बड़ी विन्रमता से अपना नाम बताया और उनका नाम पूछने ही वाला था कि वे बीच में बोले उठे,'' अब अवश्य ही आप जानना चाह

रहे होगें कि मेरा नाम क्या है, मैं कौन हूँ ? तो सुनिए–''और फिर एक कदम पिछे हटकर, गरदन को थोड़ा मेरी ओर झुकाकर बड़े ही अभिनयात्मक लहजे में कहा , ''इस नाचीज को पंडित 'गजाधर शास्त्री' कहते हैं। यों तो हिन्दुस्तान में हजारों गजाधर शास्त्री होगें, पर आप शायद जानना चाहेगें कि मैं जो आपके सामने खड़ा हूँ, वह मैं, उन हजारों में से किस बात में भिन्न हूँ। तभी तो परिचय पूरा होगा ना, क्यों ?''[5]

लेखक का कार्य समाज में अपना अवदान देना है न कि अपने लेखन कार्यों द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त करना। लेकिन 'पं0 गंजाधर शास्त्री' ठीक इसके विपरीत हैं, वह लेखक से अपनी लेखनी पर दम्भ स्वयं से ज्यादा है, वह लेखक से अपनी लेखन कार्य की प्रसंशा करते हुए कहते हुए कहते हैं, ''पुस्तक जो देखिए, मेरी अभी कोई छपी नही है, पर शीघ्र ही तीन–चार छपने वाली है। आज से सात साल पहले 'रश्मि' में एक कहानी निकली थी 'अमीरी–गरीबी'। अब आपको क्या बताऊँ, इधर वह निकली और इधर मेरी मुसीबत आ गई। हिन्दी की शायद ही कोई ऐसी पत्रिका होगी, जिसके सम्पादक का पत्र न आया हो कि शीघ्र ही अपनी रचना भेजिए। अब मैं नई कहानी क्या लिखूँ, जबाब लिखते–लिखते परेशान हो गया। और मैने देखा कि बच्चे के मुँह पर मेरा नाम हो गया।कहीं निकल जाउँ, लोग उंगली उठाकर कहते, ''यह देखो, अमीरी–गरीबी के लेखक 'पं0 गजाधर शास्त्री' जा रहे हैं।आपको शायद आश्चर्य हो रहा होगा कि एक कहानी से इतनी प्रसिद्धी कैसे हो गई भला ? (सच पूछें तो मुझे आश्चर्य की अपेक्षा अविश्वास अधिक हो रहा था।) पर कहूँगा कि आश्चर्य तो तब होता ,जब कि उसकी प्रसिद्धि नहीं होती! पूछिए तो भला ऐसा क्यों ?'' मुझे मजबूरन पूछना पड़ा कि ऐसा क्यों ? और तब उन्होंने ऐनक उतारकर मेरी ओर झुककर उसी लहजे में कहा, ''ऐसा यों कि वह कहानी क्या थी, बस समझ लीजिए कि अमीरी–गरीबी का जीता–जागता चित्रण था। सच मानिए, इतनी जान थी उस कहानी में, इतनी जान की शायद अमीरी–गरीबी स्वयं उतनी सजीव नही होगी। बस यही है, हमारी सफलता का गुण ! लेखक वही सफल हो सकता है, जो अपनी लेखनी से निर्जीव शब्दों में भी जान डाल दे। अब पूछिए भला, जान कैसे डाली जाती हैं ?''[6]

साहित्यकार या कवि दोनों का ही हृदयस्थल मर्म को भेदने वाला होता है। उसके अन्तःकरण में करुणा का भाव होता है किन्तु शास्त्री जी कहानी लिखने के स्तर पर कुछ और हैं और उनके जीवन में ये संवेदना कुछ और रूपों में दिखाई देती है। बड़ी–बड़ी डींग हाँकने वाले शास्त्री जी को अपनी साहित्यिक चोरी का भान भी नहीं है बल्कि वे ह्यूगो की जाहिर संवेदनाओं से अपनी संवेदना को सर्वोपरि रखते हुए कहते हैं,'' अरे, इसकी तरह होगी क्यों नहीं? हमारी अनुभूति क्या कम संवेदनशील है ? रात–दिन चोरों और पतितों के दुख से घुला जाता हूँ, तभी तो हुगों की टक्कर की कहानी लिख पाता हूँ। देखा आपने ही कबूल कर लिया कि मेरी कहानी ह्यूगो जैसी उत्तम है। (हालाँकि उत्तम की बात मैंने कही नहीं थी, वह शायद उन्होने कल्पना से जोड़ ली) और होगी भी क्यों नहीं, वह तो होनी ही चाहिए। आप कहानी को मेरे जीवन से अलग तो नहीं कर सकते।''[7]

3. 'दो कलाकार'

समाज और मनुष्य अनेक प्रकार की रंगीनियों से युक्त है। मनुष्य जो सिर्फ समाज के बीच उठता और हर पल अपनी जिन्दगी को आगे बढ़ा रहा होता है, तब समाज की कुछ घटनाएँ उसकी सहानभुति और संवेदना को पार कर जाती है। वहीं बातों का प्रभाव किसी के उद्यम को आगे बढ़ाने का रास्ता खोलती है। मन्नू भंडारी की कहानी 'दो कलाकार' में 'चित्रा' और 'अरुणा' दो ऐसी ही लड़कियों का चित्रण किया गया है, जो अपने अलग नजरिये से जिन्दगी के हर पहलू को देखती हैं। महसूस करती है जब चित्रा अपने बनाये हुए चित्र पर इतराती हुई कहती है, ''जरा–सा दिमाग लगाने की कोशिश करेगी तो समझ में आ जाएगा कि यह चित्र आज की दुनियां के कन्फ्यूजन का प्रतीक है। बस हाँ थोड़ा दिमाग होना जरूरी है।''[8]

चित्रा के किए गये कटाक्ष पर अरुणा ने बौखलाए हुए कहा, ''मुझे तो तेरे दिमाग के कन्फ्यूजन का प्रतीक नजर आ रहा है। बिना मतलब जिन्दगी खराब कर रही है।'' और अरुणा मुँह धोने के लिए बाहर चली गई। लौटी तो देखा तीन–चार बच्चे उसके कमरे के दरवाजे पर खड़े उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। आते ही बोले, ''दीदी ! सब बच्चे आकर बैठ गए, चलिए।''[9]

समाज में हर पेशे को अपनाने वाले लोग हैं, जो अपने काम से काम और कार्यसिद्धि की पूर्ति में ही लगे रहते हैं। वह चाहे जिन्दगी का कोई भी क्षण क्यों न हो अपने कार्य को अंजाम देने से नहीं चूकते। चित्रा अपने कार्य की चमक को बढ़ाने के लिए हर वो काम करती है, जिससे वह एक दिन प्रसिद्ध कलाकार बन सके। वह अपने विदेश जाने से पहले भी कुछ अचानक और ऐसा प्राप्त करती है। जिसे वह अपने कागज पर उकेरकर एक बड़े कलाकार की भूमिका में उभरती है। सब उसकी राह देख रहे थे, तभी छात्रावास में प्रवेश करते ही वह बोलती है, ''बडी देर हो गई ना ! अरे क्या करूँ,बस कुछ ऐसा हो गया कि रूकना ही पड़ा।''[10] ''आखिर क्या हो गया ऐसा, जो रूकना ही पड़ा, सुनें तो।''[11] दो–तीन कंठ एक साथ बोले।

चित्रा आतुरता के साथ सबके प्रश्नों का एक साथ उत्तर देती है,''गर्ग स्टोर के सामने पेड़ के नीचे अक्सर एक भिखारिनी बैठी रहा करती थी ना, लौटी तो देखा कि वह वहीं मरी पड़ी है और उसके दोनों बच्चे उसके सुखे शरीर से चिपककर बुरी तरह रो रहे हैं। जाने क्या था उस सारे दृश्य में कि मैं अपने को रोक नहीं सकी एक रफ सा स्केच बना ही डाला । बस इसी में इतनी देर हो गई।''[12] चर्चा इसी पर चल रही पड़ी, कैसे मर गई, कल तो उसे देखा था।'' किसी ने दार्शनिक की मुद्रा में कहा,'' अरे, जिन्दगी का क्या भरोसा, मौत कहकर थोड़े आती है।''[13]

आज के समय में हम सिर्फ अपनी झूठी संवेदनाएँ व्यक्त कर पाते हैं, उसे साकार करने की क्षमता होने के बावजूद हम उसे साकार नहीं करना चाहते। जबकि हममें से ही कुछ ऐसे भी होते हैं, जो संवेदना को एक साकार रूप दे बैठते हैं ठीक यही स्थिति इस कहानी में 'चित्रा' और 'अरुणा' की भी है। जहाँ चित्रा एक तरफ अपनी तस्वीरों के माध्यम से अपनी संवेदना व्यक्त करती है, वहीं अरुणा की संवेदनाओं का स्वरुप आकार रूप में रहता है। भीख मांगने वाली मरी हुई स्त्री और उससे लिपटे बच्चों की महज तस्वीर खींचकर चित्रा अपनी संवेदना व्यक्त कर पाती है। फिर इस इस चित्र के सहारे न जाने कितनी संवेदनाएँ उसकी प्रसिद्धि का आधार बनती हैं। वहीं अरुणा इन तस्वीरों के सहारे ही उन बच्चों तक पहुँचकर उन्हे अपना लेने जैसी बड़ी भूमिका अदा करती है, जिससे इन्सानियत और इन्सानियत के अदालत में अरुणा से बहुत पीछे छूट जाती है। अरुणा चित्रा की चित्र प्रदर्शनी में अपनी पति मनोज और दो बच्चों को साथ लेकर पहुँचती है, वह उनसे परिचय कराती है। बच्चे चित्रा से बड़े प्यार से कहते हैं।'' आप हमें सब तस्वीरें दिखाइए मासी।.... घूमने–घूमने में वे उसी भिखारिनी वाली तस्वीर के समाने आ पहुँचे। चित्रा ने कहा,'' यही वह तस्वीर है रूनी, जिसने मुझे इतनी प्रसिद्धि दी।''[14] वहीं बच्चों से प्रभावित हुई 'चित्रा' बच्चों के जाते ही अरुणा से पूछ बैठती है, सच–सच बता रूनी ! ये प्यारे–प्यारे बच्चे किसके हैं ?''[15]

''अरे बताओं ना ! मुझे ही बेवकूफ बनाने चली है।''[16] कुछ क्षण के बाद अरुणा ने कहा ''बता दूँ ?'' फिर उस भिखारिन वाले चित्र के दोनों बच्चों पर अँगुली रखकर बोली,'' ये ही वे दोनों बच्चें हैं।''[17] ''क्या ऽऽऽ !''[18] ''विस्मय से चित्रा की आँखें फैली–की–फैली रह गई ।'' क्या सोच रही है चित्रा ?''[19]

''कुछ नहीं.........मैं सोच रही थी कि.........''[20] पर शब्द शायद उसके विचारों में ही खो गए।

4. 'एक कमजोर लड़की की कहानी'

जिन्दगी में हर रिश्ते का अपना अलग ही महत्व है और अगर रिश्ता माता–पिता और उसकी सन्तानों के मध्य का हो तो बात ही कुछ और हो जाती है। माता और पिता के संस्कार ही पाठशाला की नींव का काम करते हैं। 'रूप' के पिता 'रूप' की अलग पढ़ाई की व्यवस्था करने के बावजूद खुश नहीं हैं, उन्होंने उसके लिए एक नया फैसला कर डाला है जो उसके हित में तो है लेकिन एक पुत्री को पिता से अलग करने का फैसला है। अतः जब वह फिर एक बार पिता का अपने लिए कोई नया विचार जानती है, तो वह उनसे मना करने के लिए मचल उठती है, ''मैं नहीं जाऊँगी मामा–वामा के यहाँ। अपना घर क्यों छोड़ूँ, स्कूल भी छुड़वा दिया, इतना काम भी करती हूँ, फिर भी ये लोग मुझे अपने घर नहीं रखना चाहते। एक बार मैं साफ–साफ कह दूँगी कि मैं कहीं भी नहीं जाऊँगी।''[21] पिता के आने पर जैसे ही उनके कमरे तक पहुँचती है, अपनी सौतेली माँ द्वारा पिताजी को कही गयी बात सुनकर ठिठक जाती है ''तुम्हारे ही भेजूँ–भेजूँ करने से क्या

होता है, तुम्हारी लाडली तो सवेरे से आँसू ढुलका रही है।''[22] किन्तु पिता बड़े ही आत्मविश्वास भरे लहजे में बोलते हैं, ''कौन, रूप बेटी ! अरे वह बड़ी समझदार लड़की है, मेरा कहना वह कभी टाल सकती है भला ! आज के जमाने में ऐसी लड़की बड़े भाग्य से ही मिलती है।''[23]

भारतीय समाज में स्त्रियाँ पग–पग पर जहाँ बन्धनों में जकड़ी रहती है तो वहीं चाहकर कुछ बन्धनों के साहचर्य को स्वयं ही अंगीकार कर लेती है। रूपजो बचपन से ही पिता की आज्ञा की अवमानना नहीं कर पाती है, वही आज मामा के यहाँ रूप नई सोच और जिन्दगी पाने के साथ ही ललित का साथ उसके जीने के अन्दाज को बदल देता है वह अब दुःखी होकर नहीं बल्कि मानिनी नायिकी की भाँति जो भी ललित कहता है, उसको मानने को तैयार नहीं होती है। जब ललित कॉलेज के फार्म में अपने ही बताए विषयों को चुनने को कहता है तो वह झुंझलाती हुई कहती है, ''जाओ, नहीं समझते हैं तो नहीं सही, पर तुम्हारे विषय कभी नहीं लेंगे। कोई तुम्हारे गुलाम हैं, जो हर बात तुम्हारी ही मानें !''[24] किन्तु फिर रूप अपनी ही कही हुई बात पर अटल नहीं हो पाती और वह उन्हीं विषयों को चुनती है, जिनको ललित ने सुझाया था। अतः ललित आश्चर्य और खुशी मिश्रित भाव लिए कहता है, ''क्यों री रूप ! तू अपनी बात पर टिकती क्यों नहीं। विरोध तो बड़े जोर–शोर से करेगी, दुनिया भर की अकड़ दिखाएगी पर करेगी वही जो दूसरे चाहते हैं।''[25]

सन्दर्भ ग्रन्थ सूचीः

1. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 52
2. वही
3. वही
4. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 53
5. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 54
6. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 55
7. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 60
8. वही, पृ0 61
9. वही
10. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 65
11. वही
12. वही
13. वही
14. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 66
15. वही, पृ0 67
16. वही
17. वही
18. वही
19. वही
20. वही
21. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 69
22. वही
23. वही
24. सम्पूर्ण कहानियाँ–मन्नू भंडारी, पृ0 71
25. वही

Vol. XV, [Issue No. 1, 2 & 3 combined], Jan.– Dec. 2018, ISSN: 0970-1745

शेख अहमद खट्टू सरखेजी

डॉ. मोहम्मद आदिल
असिस्टेंट प्रोफेसर इतिहास विभाग
भवंस मेहता महाविद्यालय भरवारी कौशांबी

तसव्वुफ के जो सिलसिले हिंदुस्तान में स्थापित हुए, उनमें कादिरिया, चिश्तिया, नक्शबंदिया और सुहरावर्दिया सिलसिला हिंदुस्तान में बहुत लोकप्रीय हुआ। ऐसे ही एक सिलसिला मगरिबिया भी था। प्राचीन काल में मगरिब उन मुमालिक को कहते थे जो मिस्र के उत्तर में स्थित थे, जिसमें तराबिस, अलजजाइर, तोंस, मराको और स्पेन आदि शामिल थे। इन देशों की हर वस्तु के साथ मगरिबी शब्द प्रयोग होता था जिसके कारण तसव्वुफ के उस सिल्सिले को जो यहाँ से पूर्व की ओर फैला उसे सिलसिला मगरिबी कहा गया।[1] हिंदुस्तान में मगरिबी सिलसिला नवीं और दसवीं सदी में अपने चर्मोत्कर्ष पर रहा। इस सिलसिले का प्रभाव हिंदुस्तान की सामुद्रिक सीमाओं पर बसे लोगों पर अधिक रहा। भारत में इस सिलसिले के संस्थापक अबू इस्हाक थे।[2] इस सिलसिले को भारत में लोकप्रीय बनाने का श्रेय शेख अहमद को प्राप्त है। हजरत शेख इस्हाक मगरिबी अपने पीर अबू मदीन मगरिबी के देहांत के बाद उनकी इच्छानुसार सुल्तान फीरोज शाह के शासनकाल में हिंदुस्तान आकर अजमेर ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती के आस्ताने पर कुछ अरसे तक रहे। एक दिन ख्वाब में मुईनुद्दीन चिश्ती ने उन्हें नागौर में स्थित खट्टू या खाटू नामी कस्बे में जाकर काम करने को कहा। उच्छ नामक ग्रंथ से पता चलता है कि शेख इस्हाक, मुईनुद्दीन चिश्ती के समकालीन थे। मुईनुद्दीन ने उन्हें खट्टू या खाटू भेजा था।[3] धीरे–धीरे शेख इस्हाक की प्रसिद्धि इतनी बढ़ गयी कि सुल्तान फीरोज शाह भी उनकी सेवा में उपस्थित हुआ। सुल्तान को शेख इस्हाक की खानकाह पर देख अन्य लोगों का भी जुड़ाव और बढ़ गया। शेख इस्हाक का नाम अहमद बिन अब्दुल्लाह और लकब (उपाधि) गंज बख्श था। शेख की अन्य उपाधि जमालुद्दीन, शहाबुद्दीन और गंज गीसर भी मिलती है।

जहाँगीर अपने ग्रंथ तुजुक–ए–जहाँगीरी में गुजरात के सफर के सिलसिले में खट्टू के बारे में लिखता है– ''चूँकि शेख अहमद खट्टू की मजार मार्ग में स्थित थी, इसलिए वहाँ फातेहा पढ़ने गया। खट्टू सरकार नागपुर में स्थित एक कस्बे का नाम है। शेख अहमद का जन्म यहीं हुआ था।[4] ये बुजुर्ग सुल्तान अहमद जिसने अहमदाबाद शहर की बुनियाद रखी थी, के शासनकाल में यहाँ आये। सुल्तान अहमद उनका भक्त था। गुजरात के अन्य लोग भी शेख का बहुत सम्मान करते थे। वे अपने समय के बहुत बड़े सूफी थे। शुक्रवार की हर रात को बड़ी संख्या मे लोग उनकी मजार की जियारत के लिए जाते हैं। सुल्तान अहमद के लड़के सुल्तान मोहम्मद ने उनकी मजार पर एक आलीशान मकबरा तामीर कराया और जिसमें एक मस्जिद और खानकाह की बुनियाद भी रखी। मकबरे के दक्षिण में एक बड़े तालाब का भी निर्माण कराया। इसी तालाब के किनारे गुजरात के कई शासकों का मकबरा है।''[5] ऐसा प्रतीत होता है कि तुजुक–ए–जहाँगीरी मूल ग्रंथ के अनुवाद में गलती के कारण शेख अहमद का जन्म नागपुर में लिख दिया गया या जहाँगीर के साथ जो लोग थे, उन्होंने किसी और की मजार को शेख की मजार बता दिया था और जहाँगीर ने उसे अपने तुजुक में लिख लिया। वहीं अबुल फज्ल ने आइन–ए–अकबरी में लिखा है कि उनका (शेख अहमद) का जन्म देहली में हुआ था और उनका स्थान दिल्ली के बुजुर्गों में था। ये बाबा इस्हाक मगरिबी के मुरीद व खलीफा थे, उनका नाम नसीरुद्दीन था। बहरुल तवारीख में भी शेख अहमद का जन्म 737 हिजरी में देहली में बताया गया है। किंतु भाग्य ने उन्हें खट्टू पहुँचा दिया और शेख अहमद खट्टू सरखेजी के नाम से प्रसिद्ध हो गये।

जोधपुर के जिला नागौर में खाटू नाम का दो मौजा है जो एक दूसरे से दो या तीन मील की दूरी पर स्थित हैं। एक को छोटी खाटू दूसरे को बड़ी खाटू के नाम से जाना जाता था। पुराने दस्तावेजों में खाटू के स्थान पर ''खट्टू'' शब्द का प्रयोग हुआ है। बड़ी खाटू किसी जमाने में महत्वपूर्ण स्थानों में से था, क्योंकि यहाँ बहुत से मसाजिद, मजारात और अन्य पुराने अवशेष मौजूद हैं। उनमें से

सबसे पुरानी सुल्तान इल्तुतमिश के जमाने (633 हिजरी) की मस्जिद है। यहाँ से सफेद संगमरमर पर अरबी में लिखा हुआ एक कत्बा मिला है, जिस पर रमजान 629 हिजरी की तारीख दी गई है। इससे ये मालूम होता है कि ये शुरु में ये इल्तुतमिश के शासनकाल में किसी तालाब पर लगाया गया था। वर्तमान में ये कत्बा हजरत इस्हाक मगरिबी के दरगाह में मौजूद है। जो शेख अहमद खट्टू के पीर व मुर्शिद थे और जिनकी मजार सरखेज (गुजरात) में स्थित है।

शेख के जीवन के बारे में नवीं सदी हिजरी में मोहम्मद कासिम के मुरक्कात–उल–वसूल अलिल्लाह व रसूल में मिलता है। उसका हस्तलिखित ग्रंथ अहमदाबाद के हुसैनी पीर के पुस्तकालय मै मौजूद है।[6] शेख अहमद हजरा इस्हाक से कैसे मिले इसे लेकर तो मत हैं। पहले मत के अनुसार शेख अहमद के पूर्वज देहली के निवासी थे और उनका बचपन देहली में गुजरा। एक बार शेख अहमद देहली में बच्चों के साथ खेल रहे थे और उसी बीच एक भयानक आँधी आयी जो उनको वहाँ से किसी तरफ ले गयी। आँधी बंद हुई तो वे यार मददगार हो गये। वे इधर–उधर घूमकर समय काटते थे। एक दिन उनकी मुलाकात बाबा इस्हाक मगरिबी से हुई जो उस समय चोटी के दरवेशों में थे, उन्होंने उसे अपने साथ खट्टू लाया। इस प्रकार बाबा इस्हाक की सरपरस्ती में उनकी शिक्षा पूर्ण हुई।

दूसरी रिवायत मारिज विलायत की है। उसके अनुसार शेख अहमद खट्टू के पीर बाबा इस्हाक मेरठ की तरफ आये और यमुना नदी के किनारे एक टूट वृक्ष के नीचे कुछ दिन ईश्वर की उपासना में लीन रहे और वहाँ से खट्टू नामक मौजा में आकर बस गये। उन्हीं दिनों देहली में जबरदस्त तूफान आया और चारों तरफ अंधेरा छा गया। देहली का एक बच्चा जिसे उसकी दायी घर से बाहर लायी थी वह गुम होकर एक ऐसे स्थान पर पहुँचा जहाँ एक काफिला ठहरा हुआ था। सुबह काफिले वालों ने एक मासूम बच्चे को देखा तो उसे अपने साथ लेकर पंजाब की तरफ रवाना हो गए। उस काफिले से ये बच्चा एक रुई के व्यापारी के हाथ आ गया जो उस समय पंजाब के एक कस्बे दहिंदाना से रुई के व्यापार के लिए देहली गया हुआ था। वह बच्चे को अपने साथ घर ले आया। उसी समय मौलाना शहाबुद्दीन हमदानी के पौत्र मौलाना सद्रुद्दीन इसी गाँव में आये हुए थे। मौला सद्रुद्दीन ने बाबा इस्हाक से मिलने खट्टू गये तो उन्होंने कहा कि यदि एक बच्चा इसी तरह मिले तो मेरे लिए लाना। वापस गाँव जाकर देखा तो एक बच्चा उन्हें वैसे ही दिखा जैसे बाबा इस्हाक ने उनके पास लाने को कहा था। उस व्यापारी से वह बच्चा लेकर बाबा इस्हाक के पास उपस्थित हुए। उन्होंने उस बच्चे को लेकर पालन–पोषण किया और उसका नाम शेख अहमद रखा जो बाद में शेख अहमद खट्टू के नाम प्रसिद्ध हुये।

जब शेख अहमद बारह वर्ष के हुए तो उन्हें अपने साथ देहली ले जाकर चिश्ती सूफियों के मजारों का दर्शन। देहली में शेख अहमद को उनके भाई ने पहचान लिया और कहा ये तो मेरा भाई नसीरुद्दीन है जो अंधेरों में गुम हो गया था। उस समय शेख अहमद को उसके पिता ने अपने साथ ले जाना चाहा तो शेख ने उनके साथ जाने से इनकार कर दिया और बाबा इस्हाक के साथ ही रहे। उन दिनों दिल्ली में हजरत मखदूम जहाँगश्त उच्छ से देहली आये हुए थे। सुल्तान फीरोज शाह अपने अमीरों के साथ हजरत मखदूम की सेवा में उपस्थित हुए। उस समय बाबा इस्हाक ने शेख अहमद से कहा कि चाहो तो हजरत मखदूम को अपना पीर स्वीकार कर लो, शेख अहमद ने उत्तर दिया कि मैं आपका पीर मान चुका हूँ। बच्चे की बात सुनकर बाबा इस्हाक बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एक समय आयेगा जब हिंदुस्तान का शहंशाह भी तुम्हारे तुम्हारे दरवाजे पर आयेंगे। जब शेख अहमद बीस वर्ष के हुए तो बाबा इस्हाक ने उन्हें लिबास खिलअत से नवाजा और खिरका खिलाफत के साथ–साथ अपने पीरों की निशानी देकर स्वयं फौत हो गये।[7] बाबा इस्हाक का सिलसिला शेख अबू मदीन मगरिबी से जाकर मिलता है। शेख अब्दुल हक देहलवी ने अखबार–उल–अखियार में लिखा है कि उनके सिलसिले के तमाम बुजुर्ग 150 वर्ष से अधिक जीवित रहे थे। शेख अहमद के पीर बाबा इस्हाक का देहांत भी 116 वर्ष की अवस्था में 776 या 763 हिजरी में हुआ था। उनकी मजार खट्टू में स्थित है। अपने पीर के देहांत के बाद शेख अहमद खम्भात के रास्ते हज के लिए मक्का की यात्रा किया। हज से वापस हुए तो उच्छ में मखदूम जहाँगश्त से आशीर्वाद लेकर खट्टू पहुँचे। खट्टू में कुछ दिन रहने के बाद देहली गये और मस्जिद खान–ए–जहाँ में ठहरे। मस्जिद में दिनों–रात ईश्वर की इबादत में लीन रहते थे। उसी दौरान हजरत मखदूम जहाँगश्त देहली आये तो उन्हें पता चला कि शेख अहमद

मस्जिद–ए–खान–ए–जहाँनी में हैं तो हजरत उनसे मिलने गये और उन्हें आशीर्वाद दिया। 1398 ई. में तैमूर ने जब दिल्ली पर आक्रमण किया उस समय देहली का सुल्तान महमूद तुगलक गुजरात भाग गया था। शेख अहमद खट्टू उस समय देहली में ही थे। तैमूरी सेना ने दिल्ली में लूट–मार कर बहुत से लोगों को बंदी बना लिया था। उन बंदियों में शेख अहमद भी शामिल थे, तैमूर को जब उनकी बुजुर्गी और करामत का हाल मालूम हुआ तो उसने उन्हें रिहा करने का आदेश दे दिया और सवारी भेजकर उन्हें अपने पास बुलाया। शेख जब तैमूर के पास पहुँचे तो उन्होंने तैमूर से दिल्ली में लूटमार बंद करने और बंदियों को रिहा करने की अपील की। तैमूर ने उनकी बात का सम्मान रखा और लूट–मार बंद कर दिया।[8]

तैमूर ने शेख अहमद को अपने साथ अपनी राजधानी समरकंद ले गया। समरकंद में कुछ दिन रहकर वे बल्ख, हेरात, और कंधार होते हुए हिंदुस्तान आये। कंधार के गवर्नर ने उन्हें अपने यहाँ रोकना चाहा लेकिन शेख ने उसे मना कर मुल्तान गये और वहाँ से सरखेज जाकर बस गये और अपने अंतिम समय तक वहाँ रहे।[9] अखबार–उल–अखियार में शेख के गुजरात आने का इस प्रकार से उल्लेख मिलता है– जफर खाँ जो फीरोजशाह द्वारा नहरवाला का हाकिम बनाया गया था। बाद में सुल्तान मुजफ्फर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसने शेख अहमद को गुजारात आने निमंत्रण दिया और शेख अहमद सरखेज जाकर रहने लगे। (अखबार–उल–अखियार) अबुल कासिम ने अपने ग्रंथ अल–कबीर में लिखा है कि सन् 802 हिजरी में शेख अहमद मुजफ्फर खाँ के शासनकाल में गुजरात आये और बदाबू हरह नामी व्यक्ति के यहाँ ठहरे और बाद में सरखेज जाकर वहीं बस गये। सुल्तान मुजफ्फर खाँ के मृत्यु के बाद उसका पौत्र सुल्तान अहमद तख्त पर बैठा। वह भी शेख अहमद का मुरीद हो गया था।[10]

मिरात–ए–सिकंदरी में लिखा है कि गुजरात के सुल्तान अहमद ने अहमदाबाद की बुनियाद रखी। अहमदाबाद जहाँ पर आबाद है कभी उस स्थान पर बादांबाद नामक शहर आबाद था। किसी कारण वह शहर उजड़ गया था। अहमदाबाद शहर की तामीर का काम 1411 ई. (813 हिजरी) में शुरु हुआ और 1414 ई. (816 हिजरी) में पूर्ण हुआ। अहमदाबाद की बुनियाद अहमद नाम के चार व्यक्तियों ने रखी थी। शेख अहमद, सुल्तान अहमद, शेख अहमद खट्टू और मुल्ला अहमद ये चार व्यक्ति थे, जिनके द्वारा अहमदाबाद की बुनियाद रखी गयी। सुल्तान अहमद ने 1414 ई. में मानिक चौक के निकट एक आलीशान मस्जिद का निर्माण कराया जिसमें मलूक खाना के अतिरिक्त 300 सुतून, 98 गुंबद, दरवाजा मलूक खाना में 12 तख्त और उत्तर की ओर 212 सुतून थे। महमूद शानी के शासनकाल में ये दस्तूर था कि रबीउल अव्वल माह की एक से बारह तारीख तक को उलमा और सूफी दरबार में उपस्थित होकर बुखारी हदीस का दर्स देते। उसी माह की बरहवीं तारीख को दरबार में आने वाले विद्वानों की सेवा करता। वजीर तस पकड़ता सुल्तान लोगों के हाथ पर पानी डालता था। इस अवसर पर सुल्तान खूब इनाम बांटता था।[11] शेख अहमद खट्टू देहली और गुजरात के कई शासकों का शासनकाल देखा था। सुल्तान फीरोजशाह तुगलक से लेकर तुगलक वंश के अंतिम शासक नासिरुद्दीन महमूदशाह तुगलक तक के शासकों का शासनकाल देखा था। गुजरात के शासकों में सुल्तान मुजफ्फरशाह, अहमदशाह और सुल्तान मोहम्मद उनके समकालीन शासक हुए। सुल्तान अहमदशाह ने तो शेख अहमद को अपना अध्यात्मिक गुरु स्वीकार कर लिया था।[12] महमूद बिन सईद इरजी ने तोहफत–उल–मजालिस के नाम से शेख अहमद के मलफूजात जमा किए थे। शेख के बारे में अन्य जानकारी भी इसमें विस्तार से मिलती है। सईद इरजी तोहफत–उल–मजालिस में लिखते हैं कि सुल्तान फीरोज भी शेख का बहुत सम्मान करता था। तैमूर के देहली आने से तेरह दिन पूर्व ही अपने शिष्यों और तुगलक सुल्तान को उसके दिल्ली पर आक्रमण और उस पर विजय की सूचना दे दी थी। सुल्तान शेख की भविष्यवाणी सही मानकर जौनपुर चला गया। उसने शेख को भी अपने साथ जौनपुर ले जाना चाहा लेकिन शेख ने दिल्ली वालों के साथ रहना पसंद किया। जैसा की ऊपर बताया जा चुका है कि शेख को तैमूरी सेना ने बंदी बना लिया था। जब तैमूर को उनकी वास्तविकता ज्ञात हुई तो उसने शेख के साथ जितने लोगों को उसकी सेना ने बंदी बनाया था, बड़े सम्मान के साथ रिहा कर दिया। शेख अहमद का कथन है कि हमारे साथ चालीस फकीर बंदीगृह में थे। उनके लिए ईश्वर की तरफ से प्रतिदिन चालीस रोटियाँ आया करती थी।

शेख हमेशा नंगे पाँव बिना की वस्तु लिए दूर–दूर तक यात्रा करते थे। शहर या किसी बस्ती के मस्जिद में ठहरा करते और जो कुछ मिला खा लिया। शेख अब्दुल हक ने लिखा है कि शेख अहमद के यहाँ उमरा, फुकरा और सुल्तान के लिए उनका दस्तर–ख्वान बड़ा था। शेख अहमद लम्बे समय तक लोगों को सत्य मार्ग पर चलने की दावत देते रहे। एक सौ ग्यारह वर्ष की अवस्था में 1445 ई. में सुल्तान मोहम्मदशाह के समय इस फानी दुनिया को सदा के लिए अलविदा कह दिया। मुफ्ती गुलाम सरवर लाहौरी ने खजीनत–उल–आसफिया में लिखा है कि शेख सलाउद्दीन को जो एक राजपूत का लड़का था और बचपन से उनके संरक्षण में रहे थे, खिरका खिलाफत अता किया। शेख अहमद का देहांत एक सौ ग्यारह वर्ष की आयु में हुआ।[13] मारिज–उल–विलायत में लिखा है कि शेख अहमद का जन्म 738 हिजरी में हुआ था और एक सौ ग्यारह साल की अवस्था में शव्वाल माह में 849 हिजरी में उनका देहांत हुआ था। उनकी मजार मौजा सरखेज में स्थित है। शेख अहमद ने जीवन भर विवाह नहीं किया और इश्क इलाही में अपने को फना कर दिया।[14] जहाँगीर ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि ''1617 ई.(1026 हिजरी) में जुमेरात के दिन मैं बाग–ए–फतह की सैर के लिये गया जो मौजा सरखेर में स्थित है। मार्ग में एक अजार पाँच सौ रुपये न्यौछावर किये, क्योंकि शेख अहमद की मजार मार्ग में स्थित था इस लिए वहाँ हाजिर होकर फातेहा पढ़ा, खट्टू एक कस्बे का नाम है जो सरकार नागपुर में स्थित है यही कस्बा शेख का जन्म स्थान है, शेख अहमद गुजरात के सुल्तान अहमद के जमाने में थे, जिसने शहर अहमदाबाद की बुनियाद रखी थी, सुल्तान अहमद शेख से निहायत अकीदत व इखलास रखता था, इस इलाके के लोग भी उनसे निहायत अकीदत रखते हैं और उन्हें अकाबिर औलिया में शुमार करते हैं, प्रत्येक जुमें की रात में हर किस्म के लोग जियारत के लिए हाजिर होते हैं, सुल्तान मोहम्मद के लड़के सुल्तान अहमद ने शेख का मकबरा व मस्जिद और खानकाह की आलीशान इमारतों की बुनियाद रखी थी और मकबरे के दक्षिण में एक बड़ा तालाब बनवाया था। तालाब के चारों ओर पत्थर और चूने से मजबूत करवाया था। ये इमारतें महमूदशाह के पुत्र कुतुबुद्दीन के शासनकाल में पूर्ण हुई थी। तालाब के किनारे शेख की मजार की पाइंती में गुजारात के बाद के शासकों के मकबरे बने हुए हैं, गुम्बद के अंदर सुल्तान महमूद बेकरह और उस का बेटा सुल्तान मुजफ्फर और उसका पौत्र महमूद शहीद, जो गुजरात की सल्तनत का आखिरी चिराग था, आदि दफन हैं। सलातीन गुजरात के मकबरे के निकट उनके उमरा के गुम्बद हैं। निःसंदेह शेख अहमद खट्टू के मकबरे की इमारत निहायत आलीशान है, उस इमारत के निर्माण में लगभग पाँच लाख रुपये खर्च हुए होगें।[15] शेख अहमद खट्टू ने सरखेजी की वफात के बाद मोहम्मद शाह दोएम ने उनका मकबरा, मदरसा और उसमें रहने के लिए छात्रावास बनवाया जिसका नाम दार–उल–अकामा रखा जो बहुत दिनों तक कायम रहा। 1921 ई. तक उसके कमरों के खण्डहर मौजूद थे। सुल्तान महमूद और सुल्तान मुजफ्फर के समय हसन–उल–अरब इस मदरसे के प्रधानाचार्य थे।[16] सरखेज में जहाँ शेख अहमद रहते थे वहाँ उन्होंने मस्जिद, खानकाह और तालाब का निर्माण कराया था। शेख के देहांत के बाद मोहम्मद शाह ने उसी स्थान पर उनका मकबरा और एक मदरसा बनवाया। आमतौर पर मदरसे जहाँ बनते थे उसके साथ वहाँ एक कुतुबखाना (पुस्तकालय) भी होता था। संभव है कि मोहम्मद शाह ने वहाँ एक कुतुबखाने का भी निर्माण कराया रहा हो। शेख के पास अपना निजी कुतुबखाना था। एक अवसर पर उन्होंने अपने कुतुबखाने से एक हदीस की किताब निकालकर अपने पास उपस्थित लोगों को हदीस सुनाई थी।[17] मुरक्का–उल–वसूल में लिखा है कि काजी अब्दुल रज्जाक मुबारक अब्दुल हई जो आपके मुखलिस मुलाजिमों में से थे, वे उस कुतुबखाने के नाजिम और कातिब थे। लोग उन्हें काजी बढ़ मुबारक भी कहते थे, उस से उससे अंदाजा होता है कि उसमें इतनी अधिक किताबें थीं कि उसकी व्यवस्था के लिए एक पुस्तकालय अध्यक्ष रखना पड़ा था। शेख अहमद खाली समय किताबों का अध्ययन किया करते थे।[18]

शेख अहमद और उनके विचारों के बारे में हमें बहुत कम जानकारी मिलती है। कहा जाता है कि लोग आज भी उस समय के शहंशाह को तो भूल गये लेकिन उस समय के सूफी आज भी लोकप्रीय हैं। जैसे– सुल्तान अलाउद्दीन को तो लोग भूल गये लेकिन हजरत निजामुद्दीन औलिया से लोग आज भी अकीदत रखते हैं। दुर्भाग्य से शेख अहमद खट्टू के बारे में उर्दू, अरबी, फारसी और अंग्रेजी में तो कुछ लेख मिलते हैं किंतु हिंदी में उनके बारे बहुत कम जानकारी उपलब्ध है।

संदर्भ ग्रंथ :

1. सैय्यद अबू जफर नदवी, तोहफत–उल–मजालिस, आजमगढ़, 1939, पृ.1.
2. वही.
3. मारिफ शुमारा, अगस्त 1993, पृ. 105.
4. नूरुद्दीन जहाँगीर बादशाह, तुजुक–ए–जहाँगीरी, अनु. मौलवी अहमद अली साहब रामपूरी, मकतबा अलहसनात, 2013, देहली, पृ.252.
5. वही.
6. मुकदमा मकालात शीरानी, जिल्द–1, पृ. 18 व 19.
7. खजीनत–उल–आसफिया, पृ.95य गुलजार अबरार,पृ.143य अखबार–उल–अखियारय तजकिरा औलिया–ए–पाक व हिंद, पृ.195, तजकिरा–ए– सूफिया–ए–मेवात, नुजहत–उल–खवातिर, पृ. 45.
8. विस्तृत विवरण के लिए देखिए, तारीख–ए–सूफिया–ए–गुजरात.
9. मारिफ शुमारा, 1993, पृ.111.
10. वही, पृ. 112.
11. मिरात–ए–सिकंदरी,पृ. 25,26,27 व 28, उद्धृत तारीकः–ए–अदबियात, जिल्द–4, पृ.549.
12. विस्तृत विवरण के लिए देखिये, तारीख–ए–सूफिया–ए–गुजरात.
13. मुफ्ती गुलाम सरवर, खजीनत–उल– आसफिया, पृ. 300.
14. खात्मा मिरात–ए–अहमदी, पृ.33.
15. तुजुक–ए–जहाँगीरी, पृ. 443–44.
16. गुजरात की तमद्दुनी तारीख, पृ.195.
17. तोहफत–उल–मजालिस, कलमी, पृ.38.
18. मुरक्कात–उल–वसूल पृ. 5, उद्धृत गुजरात की तमद्दुनी तारीख, पृ, 220.

Vol. XV, [Issue No. 1, 2 & 3 combined], Jan.– Dec. 2018, ISSN: 0970-1745

भोजपुरी भाषा में लोक साहित्य का योगदान

डॉ0 विकास कुमार
सम्पादक- शोध
Civil Line, Takiya Road, Sasaram, Rohtas, Bihar

लोक साहित्य लोगों के मन विचार धारा एवं भावनाओं की स्वाभाविक अभिव्यक्ति है। लोक साहित्य की निर्मल अविरल धारा सदियों से ही अलिखित रूप से मौखिक परम्परा द्वारा ही एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित हो रही है। चूँकि इसका कोई लिखित साहित्य प्राप्त नहीं होता है इसलिए इसके रचनाकार का नाम प्रायः अज्ञात ही रहता है। वास्तव में लोक साहित्य ही किसी भी समाज का वास्तविक प्रतिबिम्ब होता है। इसकी भाषा जीवन्त एवं स्वतंत्र होती है इस पर किसी भी प्रकार का अंकुश नहीं होता है। जब कि शिष्ट साहित्य ठीक इसके विपरीत नियमों के बंधन में जकड़ा रहता है। शिष्ट साहित्य की भाषा भी परिनिष्ठित होती है। तथा इसका लिखित रूप भी प्राप्त होता है।

शिष्ट साहित्य का जिस प्रकार गद्य एवं पद्य दो भागों मे विभक्त किया जाता है, ठीक उसी तरह लोक साहित्य के भी दो भाग गद्य एवं पद्य है। शिष्ट साहित्य की भाँति ही लोकसाहित्य में भी अनेक विधाएँ है–

1. लोक कथा
2. प्रकीर्ण सहित्य– मुहावरे, लोकोक्ति, सूक्ति, सुभाषित, पहेली,
3. लोक गाथा
4. लोक गीत
5. मुद्रित साहित्य कहानी लोकनाट्य, कविता।

लोक साहित्य सदा से ही अपेक्षा का शिकार रहा है। हमारे काव्यशास्त्र में इसे 'ग्राम्यत्व' दोष के अन्तर्गत भी रखा गया है। सदा से ही हमारे शिष्ट समाज में लोक साहित्य को उथला मनोरंजन करने वाला सहित्य समझा जाता रहा है, परन्तु अनेक विद्वानों के सार्थक प्रयास के परिणामस्वरूप इसे साहित्य समाज में सम्मानजनक स्थान प्राप्त हो चुका है।

किसी भी देश का लोक साहित्य वहाँ के लोगों के विचारों, उनके रहन–सहन तीज त्योहारों परम्पराओं रूढ़ियों इत्यादि को अभिव्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ होता है। लोकसाहित्य में परिष्कार एवं अभिजात्य का कोई आग्रह नहीं होता है और न ही उसमें कला एवं सौन्दर्यवादी दृष्टिकोण ठूँस–ठूँस कर भरे जातें हैं। लोक साहित्यकार किसी प्रयोजन से प्रभावित नहीं होता है इसलिए उसके साहित्य में आस–पास के जनजीवन रीति–रिवाज, त्योहार, व्रत उपवास, उत्सव, एवं परम्पराओं की सहज अभिव्यक्ति रहती है।

हिन्दी की अनेक बोलियाँ है और सभी का अपना लोक साहित्य है इस तरह से लोक साहित्य का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं जगप्रसिद्ध है। चूँकि लोक साहित्य की रचना में बुद्धि को अवसर नहीं मिलता इसलिए इसमें हृदय को प्रभावित करने वाली रचनाओं का सृजन होता है। इसमें कहीं भी भावों की उलझन एवं अस्पष्टता नही होती है।

लोक साहित्य की भाषा भी अनपढ़ जन–सामान्य की भाषा होती है। लोक–साहित्य सामान्य जन–जीवन से रस ग्रहण करता है। इसलिए उसमें भावानुकूलता, संक्षिप्तता, सटीकता, इत्यादि गुण स्वतः विद्यमान हो जाते हैं।

भोजपुरी भाषा का साहित्य अत्यन्त विशद है। भोजपुरी भाषा का साहित्य लिखित व मौखिक दोनों रूपों में प्राप्त होता है। भोजपुरी भाषा का नामकरण बिहार प्रदेश के भोजपुर नामक गाँव के आधार पर हुआ। आज इसे बोलने वालों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही है।

लोक कथा–

भोजपुरी में लोकथाओं का अनन्त भंडार है। आज भी गावों में बूढ़े व्यक्ति रात के समय बच्चों को अनेक मनोरंजक तथा उपेदशक कथा सुनातें हैं।

लोककथाओं की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वेदों में अनेक आख्यान प्राप्त होते है। जिसमें कथा का बीज पाया जाता है। संस्कृत भाषा मे भी कथा साहित्य का एक वृहत इतिहास प्राप्त होता है जिसमें वृहत्कथा, कथासरित्सागर, पंचतंत्र हितोपदेश, शुकसप्तति इत्यादि।

भोजपुरी में छः प्रकार की लोक कथाएँ उपलब्ध होती है–

1. उपदेश कथा 2. व्रत कथा
3. प्रेमकथा 4. मनोरंजन कथा
5. सामाजिक कथा 6. पौराणिक कथा।

इन कथाओं की शैली अत्यन्त रोचक तथा साधारण होती है। ये लोक कथाएँ प्रायः गद्य में होती है परन्तु बीच–बीच में पद्य का प्रयोग भी होता है।

उदाहरण स्वरूप– गौरैया की कथा–एगो फरगुद्दी रहे। उ एहर–ओहर घूमत एक चना पवलस। चना के चक्की में दरत रहल तबे ओकर एक दाल छटक के खुटवा में चल गइला तब उ जाके बढ़ई से कहलस–

बढ़ई–बढई खूँटा चीर । खूँटा में मोर दाल बा।

का खाईं का पिईं, का ले परदेस जाईं।

बढ़ई कहलक– हाँ, हम एगो दाल खातिर खूँटा चीरे जाईं।

इस प्रकार गद्य–पद्य के मिश्रण से पूरी कथा समाप्त होती है।

प्रकीर्ण साहित्य–

ग्रामीण जनता अपने सामान्य बातचीत में मुहावरे लोकोक्तियों, पहेलियों, सूक्तियों, यात्रा–शकुन, इत्यादि का प्रयोग करती है। इससे उनकी बातों को बल तथा उनकी बुद्धिमत्ता का पता चलता है। काशी के विषय में यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है–

राँड़–साँड़ सीढ़ी सन्यासी।

इनसे बचे तो सेवे कासी।

जाति के संबेंध में यह लोकोक्ति विशेष प्रसिद्ध है–

बाभन, कूकुर, नाऊ

आपन जाति देखि गुर्राऊ

पहेली का उदाहरण–

एक मुट्ठी लाई घर भर छिटाई।

या सब कोई चल गयल, बुढ़वा लटक गयल।

यात्रा शकुन विचार–

चलत समय नेउरा मिलि जाय, वाम भाग चारा चषु खाय

काग दाहिने खेत सुहाय, सफल मनोरथ समझहु भाय।।

लोकगाथा–

भोजपुरी में दो प्रकार के लोकगीत मिलते है। (1) प्रथम प्रकार के वे गीत होते है जिसमें कथानक अत्यन्त संक्षिप्त होता है तथा गेंयता ही प्रमुख होती है। ये गीत छोटे–छोटे भी होते हैं। इसी कारण इसे लोकगीत की संज्ञा प्रदान की जाती है।

इसके अन्तर्गत संस्कार, ऋतु, श्रम, जाति तथा देवी–देवताओं के गीत आतें है। (2) दूसरे प्रकार के लोकगीतों में कथावस्तु की प्रधानता होती है चूँकि ये आकार में बड़े होतें हैं इसलिए इसे लोकगाथा कहा जाता है। इस प्रकार के गीतों में आल्हा, लोरकी, बनजारा, भरथरी के गीत प्रसिद्ध है। अंग्रेजी में पहले श्रेणी के गीतों को फोक सांग्स, तथा दूसरे श्रेणी के गीतों को फोक बैलेड्स कहते हैं।

भोजपुरी लाकगाथाओं को तीन भागों में विभक्त किया जाता है।

1. प्रेम कथात्मक गाथाएँ 2. वीर कथात्मक गाथाएँ

3. रोमांच कथात्मक गाथाएँ

इसमें प्रेम व वीर कथात्मक गाथाएँ ही ज्यादा उपलब्ध होतीं हैं।

वीर कथात्मक गाथाओं में 'आल्हा' एक प्रसिद्ध कथा है जो जगनिक द्वारा रचित है। इसमें आल्हा तथा ऊदल के वीर कार्यों का वर्णन है इसे लोक गायक बड़ी तल्लीनता के साथ गाते हैं। अधिकांश लोकगीत संस्कारों से संबंधित होतें हैं। संस्कार गीतों में सोहर अत्यन्त प्रसिद्ध है। यह पुत्र जन्म के अवसर पर गाया जाता है। इसकी रचना सोहर छन्द में होती है। तुलसीदास ने भी 'राम लला नहछू' की रचना इसी छन्द में की है।

सोहर का उदाहरण–

गावहुं ए सखि। गावहु, गाई के सुनावहु हो।

सब सखि मिलि जुलि गावहु, आजु मंगलगीत हो।

अन्य संस्कार गीतों में मुण्डनगीत, जनेऊ के गीत, विवाह गीत, पानी भरने जाते समय के गीत इत्यादि आतें हैं।

ऋतुगीत–

ऋतुगीतों में फगुआ, चैती–कजरी बारहमासा इत्यादि बड़े प्रसिद्ध हैं। सावन के महीने में उत्तर प्रदेश में कजली गाने की प्रथा है। औरतें पेड़ों में झूला डालकर झूलते हुए कजली गीत गाती हैं। एक प्रसिद्ध कजली गीत दृष्टव्य है–

कइसे खेले जाइब सावन में कजरिया,

बदरिया घेरि अइले ननदी।।

बारहमासा के गाने का कोई निश्चित समय नहीं है। परन्तु अधिकतर ये पावस ऋृतु में ही गाए जातें हैं। इसमे ंविरहिणी स्त्री के बारहमास में होने वाले कष्ट का वर्णन होता है। इसलिए इसे बारहमासा कहतें हैं। बारहमासा का प्रारम्भ आषाढ़ मास से होता है। उदाहरण–

प्रथम मास आषाढ़ हे सखि, साजि चलले जलधार हो

सबके बलमुआ राम, घर–घर अइले, हमरा बलमुआ परदेस हे।।

त्यौहार गीत–

गावों में नागपंचमी गोधन, बहुला, पिड़िया, छठ इत्यादि अनेक त्यौहार बड़े ही धूम–धाम से मनाये जातें हैं। इस अवसर पर ग्रामीण स्त्रियाँ घर की साफ–सफाई कर नये कपड़े पहन उत्सव मनातीं हैं। वे उत्सव मनाते हुए विविध अवसरों पर अनेक गीतों को भी गाती हैं जो उनके स्व के द्वारा रचित होते है।

जाति संबंधी गीत–

कुछ जाति संबंधी गीत भी गाँवो ंमें प्रचलित हैं। जिसे विशेष जाति केक लोग ही गातें हैं। जैसे– बिरहा, पचरा, सिडरिया, (अहीरों, दुसाध, गड़ेरिया के गीत) इत्यादि।

श्रमगीत–

श्रमगीत उन गीतों को कहतें हैं जो कार्य करते समय गाए जाते हैं। चक्की पीसते समय जो गीत गाए जाते हैं उन्हें जंतसार कहते है। कोई–कोई जंतसार निर्गुण भी होते हैं, जिसमें जाता पीसने वाली महिलाएँ अपने सुख व दुःख के दानों को पिरोतीं हैं।

धान के खेत में रोपनी सोहनी करते समय महिलाएँ अनेक गीतों को गुनगुनाती हैं। देवी देवताओं के गीत– भोजपुरी समाज में अनेक देवी–देवताओं के गीत विविध अवसरों पर गाए जाते है। ये गीत है– शीतला माई के, तुलसी माई के, छठ माई के, दुर्गा माई के, गंगा जी के इत्यादि। कही–कहीं काली मइया व हनुमान जी के गीत भी गाए जातें है।

बालगीत– गाँवों में बच्चे जब खेलते हैं तब उनके द्वारा कुछ गीत गाए जाते है

उदाहरण–

तर काटे तरकुलवा काटे, काटे वन क राजा

हथिया पर क घुंघुरू चमक गइले राजा

राजा क रजाइ भीजे, बाबू के दुपट्टा

हीचि मारो घींचि मारो, मूसरे क बच्चा।

(ख) लोरी– गाँवों में माताएँ बालकों को सुलाते समय गातीं हैं–

चन्दा मामा दूर के पूआ पकावें गूण के

अपने खाय थाली में, बाबू को दे दिए प्याली में

प्याली गई फूट, बाबू गया रूठ

इसके अतिरिक्त गाँवों में झूमर, निर्गुण, लाचारी इत्यादि गीत गाए जाने की भी परम्परा है।

मुद्रित साहित्य–

भोजपुरी भाषा का अधिकांश साहित्य मौखिक ही है परन्तु कुछ लिखित साहित्य भी विविध विधा में उपलब्ध होता है– कहानी, लोकनाट्य, कविता इत्यादि।

(क) भोजपुरी भाषा में कहानी लिखने वालों में अवधविहारी 'सुमन' तथा राधिका देवी श्रीवास्तव का नाम आता है। 'सुमन' का 'जेहल क सनदि' नाम से दस कहानियों का संग्रह प्रकाशित हुआ है। राधिका हास्यरस की कहानीकार हैं।

लोकनाट्य–

भोजपुरी भाषा के नाटककारों में रविदत्त शुक्ल, भिखारी दास ठाकुर राहुल सांस्कृत्यायन, गोरखनाथ चौबे, रामविचार पांडेय, रामेश्वर सिंह इत्यादि का नाम विशेष प्रसिद्ध है। भिखारी ठाकुर का 'बिदेसिया' नाटक विशेष प्रसिद्ध हुआ है। सांकृत्यायन के नाटकों में 'नइकी दुनिया' जोंक इत्यादि है।

कविता–

भोजपुरी साहित्य में संत कवियों का विशेष स्थान है। इन संतों ने अपने मातृभाषा में ही भक्ति के गीत गाए है। इस संतों में कबीर का नाम सर्वश्रेष्ठ है। कबीर के अतिरिक्त धरमदास, शिवनारायण, धरनीदास इत्यादि कवियों ने भी भोजपुरी में अपनी काव्य प्रतीभा दिखलाई है।

अब मोहि राम–नाम सुधि आई

अब लिखनी ना करौ रे भाई।।

अन्त में हम सकते है कि भोजपुरी साहित्य हमें अखण्डता का संदेश देता है। किसी भी राष्ट्र को एक सूत्र में बाँधने का बीज उस देश के लोक साहित्य में निहित रहता है। किसी भी देश के इतिहास, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा भाषा गौरव को उसके लोक साहित्य द्वारा ही जाना जा सकता है इसलिए अब हम बहुत समय तक अपने लोक साहित्य को उपेक्षित दृष्टि से नहीं देख सकतें हैं।

सन्दर्भ :

1. लोक साहित्य– सिद्धान्त और प्रयोग– डॉ0 श्री राम शर्मा।
2. भोजपुरी भाषा और साहित्य– डॉ0 उदयनारायण तिवारी, राष्ट्रभाषा परिषद, 1954
3. भोजपुरी– डॉ0 कृष्णदेव उपाध्याय, राजकमल प्रकाशन, 1957
5. भोजपुरी लोकगीतों में करुण–रस– डॉ0 दुर्गा प्रसाद सिंह
6. लोक साहित्य की रूपरेखा– डॉ0 सत्यनारायण दूबे

श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों का यथार्थ चित्रण

डॉ0 अरुण कुमार मिश्र
सहायक आचार्य, हिन्दी
एम.डी.पी.जी. कॉलेज, प्रतापगढ़

यथार्थ कई प्रकार के हो सकते हैं, उनमें से मुख्यतः निम्नवत हैं।

–सामाजिक यथार्थ

–सजनीतिक यथार्थ

–शैक्षिक यथार्थ

–आर्थिक यथार्थ

–धार्मिक यथार्थ

–सांस्कृतिक यथार्थ

(क) सामाजिक यथार्थ का चित्रण :

सामाजिक यथार्थ से तात्पर्य समाज के परिप्रेक्ष्य में वर्णित किए जाने वाले यथार्थ से है। समाज से संबंधित किसी भी घटना को उसके मूल स्वरूप में ज्यों का त्यों चित्रण करना सामाजिक यथार्थ कहलाता है अथवा दूसरे शब्दों में सामाजिक यथार्थ से तात्पर्य आम प्रचलित भाषा में मनुष्य द्वारा की गई सामान्य क्रियाओं के वास्तविक तथा सत्य चित्रण से है। ऐसी वास्तविकता जो समाज के भीतर विद्यमान रहती है और मनुष्य दिन प्रतिदिन उससे रूबरू होता रहता है, उसे ही सामाजिक यथार्थ कहा जाता है। कभी यह अच्छाई के रूप में हो सकता है तो कभी बुराई के रूप में। फिलहाल समाज में जैसा कुछ भी है, वैसा उसके वास्तविक स्वरूप में प्रकट कर देना यथार्थ का बोधक होता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि साहित्य द्वारा तत्कालीन समाज में उपस्थित परिस्थितियाँ तथा जन सामान्य के जीवन में होने वाली नित्य निरंतर घटनाओं का परिचय प्राप्त होता है। इस अर्थ में सामाजिक यथार्थ अनिवार्य रूप से मानव जीवन के साथ जुड़ा हुआ तथ्य है जो उसे अपने जीवन में अनिवार्यतः भोगने पड़ते हैं। और उन्हीं आधारों पर उसका समस्त जीवन चक्र गतिमान रहता है। सामाजिक यथार्थ के रूप में ज्यादातर साहित्यकार का ध्यान समाज में उत्पन्न बुराइयों पर जाता है। वह इन बुराइयों से स्वयं भी पीड़ित होता है। वह उसके विरुद्ध साहित्य को ही अपना अस्त्र बनाता है। साहित्य के माध्यम से ही वह संघर्ष की एक पृष्ठभूमि का निर्माण करता है और उस पृष्ठभूमि के आधार पर समस्त क्रियाकलाप संपादित करता है। आधुनिक समाज में अनेकों विद्रूपताएं उपस्थित है। इन विद्रुपताओं ने मनुष्य जीवन को नर्क बना दिया है। ऐसी स्थिति में साहित्यकार का दायित्व होता है कि वह मनुष्य को विद्रूपताओं के विरुद्ध संघर्ष के लिए उद्यत करें। इस कार्य के लिए वह अपने साहित्य का सहारा लेता है। व्यंग्यात्मक उपन्यास ही वह अस्त्र हो सकते हैं जिसमें व्यंग्य के माध्यम से समाज में फैली विद्रूपताओ पर प्रहार किया जा सकता है। व्यंग्यात्मक साहित्यकार उन विद्रूपताओं का अन्वेषण कर उनके समाधान की दिशा में एक प्रयत्न करता है। इस कड़ी में वह समाज में फैली हुई कुरीतियां जैसे, दहेज प्रथा, जातिगत व्यवस्था, गरीबों तथा कमजोर वर्गों का शोषण की समस्या, मजदूरों के जीवन की विडंबनाएं किसानों पर अत्याचार अंतरजातीय विवाह संबंध, विवाह पूर्व प्रेम संबंध नारी का उच्छत्रृखल व्यवहार, समाज में ऊंच–नीच का भेद आदि शामिल हैं, के ऊपर व्यंग के माध्यम से धार धार प्रहार करता है और इस प्रकार प्रकट हो जाती है समाज की यथार्थता।

(ख) राजनीतिक यथार्थ का चित्रण :

भारतीय समाज का एक राजनीतिक आधार भी है। यह आधार बहु धर्मी एवं खंडित संरचना वाली सभ्यता का संवाहक भी है। व्यंग्यात्मक साहित्यकार समस्त राजनीतिक परिदृश्य का भी अपने अनुसार अवलोकन करता है। और उसमें व्याप्त विसंगतियों पर कड़ा प्रहार करता है। राजनीतिक व्यवस्था द्वारा ही देश का शासन तंत्र निर्मित होता है और देश का विकास भी राजनीतिक व्यवस्था पर ही निर्भर करता है। जिस समय जैसी राजनीतिक व्यवस्था होती है, विकास की गति भी उसी अनुरूप आगे बढ़ती है। राजनीति में पारदर्शिता जिस स्तर की होगी राजनीति का स्तर भी उतना ही उच्च अथवा निम्न होगा। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश के राजनीतिक व्यवस्था में बड़ी उथल–पुथल की स्थिति उत्पन्न होती है। स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले गांधीवादी मूल्यों के आधार पर निर्मित व्यवस्था में स्वतंत्रता के पश्चात विकृतियां उत्पन्न हो जाती है और परिस्थितियां पूरी तरह से परिवर्तित हो जाती है। उस समय राजनीति को सेवा का माध्यम बनाया जाता था। किंतु यदि हम आधुनिक राजनीति का एक विश्लेषण करें तो हम पाते हैं कि आधुनिक राजनीति उन मूल्यों से कोसों दूर हो चुकी है। राजनीतिक नेता अपने स्वार्थ के लिए नैतिक अनैतिक सब कुछ करते हैं। उनकी कथनी और करनी में समानता कहीं भी दृ ष्टिगत नहीं होती है। चुनाव के समय किए जाने वाले वादे संभवतः पूरे नहीं किए जाते। इस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में भी तमाम विषमतायें विद्यमान होने के कारण देश की स्थिति बहुत दयनीय हो चुकी है। कोई भी राजनेता किसी भी हथकंडे का प्रयोग करके चुनाव जीतने का पूरा प्रयास करता है। इस तरह राजनीति के क्षेत्र में उत्पन्न विद्रूपताओं का वर्णन राजनीतिक यथार्थ के अंतर्गत कर सकते हैं। प्रमुख राजनीतिक यथार्थता में जातिवाद, क्षेत्रवाद, सांप्रदायिकता, आतंकवाद, अनैतिक गठबंधन की राजनीति, क्षेत्रीय दलों की बढ़ती भूमिका, वंश परंपरा व भाई भतीजावाद न्याय के क्षेत्र में भ्रष्टाचार, सरकारी कार्यालयों में घूसखोरी आदि प्रमुख हैं। एक साहित्यकार अपने साहित्य के माध्यम से इन समस्त राजनीतिक क्षेत्रों में उत्पन्न विभीषिकाओं का एक मूल्यांकन करता है और उससे संबंधित तथ्य को अपने साहित्य में समाहित करता है। अपने पात्र चरित्रों के माध्यम से वह ऐसी परिस्थिति का निर्माण करता है जिसके द्वारा समस्त राजनीतिक परिदृश्य एवं परिवेश अपने आप सामने आ जाता है। इस तरह से राजनीतिक क्षेत्र में फैले यथार्थ को आम जनमानस के सम्मुख लाकर रख देता है। अतः हम कह सकते हैं कि व्यंग्यात्मक उपन्यासकार समस्त राजनीतिक परिदृश्य का ऐसा यथार्थ चित्रण करता है कि पाठक उसे पढ़कर समस्त राजनीतिक व्यवस्था से अवगत हो जाता है।

(ग) शैक्षिक यथार्थ का चित्रण :

शिक्षा को ही किसी राष्ट्र के विकास की धुरी माना जाता है। किसी राष्ट्र के चतुर्दिक विकास के लिए शिक्षा व्यवस्था का सुदृढ़ होना परम आवश्यक है। शिक्षा ही आर्थिक उन्नयन के लिए उपयोगी यंत्र के रूप में प्रयुक्त होता है। जिस राष्ट्र की शिक्षा व्यवस्था जितनी उन्नत होगी वहां तकनीकी से लेकर अन्य विकास भी उसी गति से आगे बढ़ता है शिक्षा को जीवन की आधारभूत इकाई माना जाता है। शिक्षा के अभाव में कोई भी मनुष्य किसी भी कार्य के लिए उपयुक्त नहीं बन सकता। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की शैक्षिक दशा में सुधार के लिए सरकारों ने काफी प्रयास किए किंतु सरकारों का यह प्रयास पूरी तरह से पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में विसंगतियां आज भी विद्यमान है और उन विसंगतियों को प्रकाश में लाकर उनके निवारण की दिशा में कदम उठाना एक साहित्यकार का उत्तरदायित्व बन जाता है। इस कड़ी में एक व्यंग्य साहित्य इस कार्य को करने में सहज ही समर्थ होता है। वह शिक्षा के क्षेत्र में व्याप्त विसंगतियों को अपनी सम्यक दृष्टि से अवलोकन करता है तथा आवश्यकता के उन पर प्रहार भी करता है।

ब्रिटिश शासकों द्वारा भारत में जिस शिक्षा प्रणाली के प्रारूप का निर्धारण किया गया था वह महज उनके साम्राज्य को स्थायी बनाने के उद्देश्य से किया गया था। इस शिक्षा व्यवस्था में नागरिकता के विकास एवं प्रौद्योगिकी तथा व्यवसायिक शिक्षा पर कोई भी बल नहीं दिया गया था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भी तकरीबन शिक्षा की वही प्रणाली लागू रही और आज भी विद्यमान है। इस शिक्षा प्रणाली में अनेकों खामियां विद्यमान है। स्कूलों की कमी, योग्य अध्यापकों का अभाव संसाधनों का अभाव आज भी भारतीय शिक्षा व्यवस्था की कमजोर कड़ी के रूप में विद्यमान है। वर्तमान समय मे अंग्रेजी शिक्षा को जितना महत्व दिया जा रहा है, उतना किसी अन्य शिक्षा को नहीं। यह भी भारतीय समाज में एक

विसंगति ही कहा जा सकता है। इस विसंगति के कारण हम अपनी मूल संस्कृति से दूर होते चले जा रहे हैं। वैश्वीकरण के संदर्भ में यह बात और भी भयानक हो जाती है, क्योंकि अंग्रेजी शिक्षा व्यक्ति में मूल्य को संवर्धित नहीं कर पा रही है जबकि भारतीय शिक्षा का मूल उद्देश्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को शिक्षा में समाहित कर के विद्यार्थियों तक पहुंचाना था। मातृभाषा के निरादर ने बहुत ही विकराल स्थिति को उत्पन्न किया है। यह न केवल भारतीय लोकतंत्र की जड़ें कमजोर करता है बल्कि देश में नागरिकता के विकास में बाधक होता है। शिक्षा के क्षेत्र पर एक विहंगम दृष्टि डालने पर हम इस तथ्य से अवगत होते हैं कि आज भी देश में शिक्षा की जो व्यवस्था है वह संतुष्टि भाव उत्पन्न करने वाली नहीं है। वर्तमान शिक्षा में सबसे बड़ी विसंगति के रूप में शिक्षकों में ज्ञान की कमी है। विद्यालयों की स्थापना भी इस प्रकार से की जाती है कि उसके विषय में कुछ कहना सार्थक न होगा। विद्यालयों की स्थापना के लिए उनकी स्वयं की भूमि भी नहीं होती। कभी–कभी तो सरकारी जमीन और सरकारी भवनों का अतिक्रमण करके विद्यालयों का निर्माण कर दिया जाता है जो शिक्षा के नाम पर महज प्रमाण पत्र प्रदान करते है । श्रीलाल शुक्ल द्वारा लिखित राग दरबारी उपन्यास में भी इसी प्रकार के एक विद्यालय छंगामल इंटर कॉलेज का उल्लेख आता है जहां यह तमाम विसंगतियां विद्यमान हैं। ऐसे विद्यालयों में छात्रों को नकल कराई जाती है। शिक्षक भी छात्रों को पढ़ाने में कोई रुचि नहीं लेते। वे केवल राजनीतिक चर्चा में मसगूल रहते है। उन्हें छात्रों के भविष्य से कोई लेना देना नहीं होता । शिक्षक आपसी गुटबाजी में इस तरह से उलझे रहते हैं कि उन्हें शिक्षण के लिए कोई समय ही नहीं बचता । विद्यालयों में हमेशा वर्चस्व की लड़ाई चलती रहती है। इस प्रकार व्यंग्यात्मक उपन्यास शैक्षिक क्षेत्र की इन तमाम विसंगतियों पर प्रकाश डालते हैं और इन समस्याओं के निराकरण के लिए अनवरत प्रयास करते हैं।

(घ) आर्थिक यथार्थ का चित्रण :

मनुष्य को जीवित रहने के लिए भोजन, पहनने के लिए वस्त्र और रहने के लिए मकान की आवश्यकता पड़ती है यह सुविधाएं उसकी मूलभूत सुविधाएं हैं। यह ऐसी आवश्यकताएं हैं जिनके अभाव में जीवन जीना संभव नहीं है। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्य दिन–रात अपनी आजीविका कमाने के लिए लगा रहता है। पुराने समय में कृषि मानव जीवन का प्रमुख आधार हुआ करती थी, किंतु उत्तरार्ध में औद्योगीकरण ने एक नए प्रकार के वर्ग को जन्म दिया, जिसे पूंजीवादी वर्ग कहा गया। इस प्रकार समाज में दो वर्गों का उदय हो गया। एक पूंजीपति वर्ग दूसरा श्रमिक वर्ग। देश में औद्योगिक क्रांति का समय उपस्थित होने पर व्यापक स्तर पर यंत्रों के निर्माण ने देश में बेरोजगारी की गति में वृद्धि किया। समस्त कार्यकलाप यंत्राधीन दिन हो गए। इससे उद्योग एवं कृषि क्षेत्र क्रांति तो दिखाई दी, किंतु उसका एक नकारात्मक प्रभाव यह हुआ कि देश में बेरोजगारी भी उसी गति से बढ़ने लगी। आजादी के बाद देश में आर्थिक विकास की योजनाएं प्रारंभ की गई और इन योजनाओं को पंचवर्षीय योजनाओं के नाम से जाना जाता है। सन 1947 में बंटवारे की त्रासदी के बाद देश को एक भयंकर सूखे और युद्ध का सामना करना पड़ रहा था। इस स्थिति में देश की अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ रहा था। किंतु फिर भी हम अपनी कार्यकुशलता के बल पर खड़े हो सके। उस समय कुछ समस्याएं देश के सामने मुंह बाए खड़ी थी। उनमें से सबसे भयंकर समस्या बेरोजगारी और उसके कारण उत्पन्न निर्धनता थी। देश की अधिकांश जनता गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने को विवश थी। तथाकथित पूंजीपति वर्ग कमजोर वर्ग के शोषण में दिन–रात व्यस्त था गरीबों के शांत चूल्हे को जलाने के लिए कहीं से कोई भी प्रयास नहीं हो रहा था। इसी दुर्व्यवस्था को उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के माध्यम से ऐसा चित्रित किया कि इस समस्त आर्थिक क्षेत्र की विषमताएं सामने आने लगी। कालांतर में उन पर व्यापक विचार–विमर्श के बाद नीतियां और योजनाएं बनाई जाने लगी।

वर्तमान समाज में आज भी वही विषमताएं विद्यमान हैं जो स्वतंत्रता प्राप्ति के समय थीं। आज देश में दो वर्गों के स्थान पर तीन वर्गों का उदय हो चुका है। प्रथम–पूंजीपति वर्ग, दूसरा मध्यम वर्ग तथा तीसरा–मजदूर वर्ग। ऊपर के दोनों वर्ग मजदूर वर्ग के शोषण में दिन रात लगे रहते हैं। इस प्रकार देश के आर्थिक ढांचे में आज भी निर्धनता और बेरोजगारी उसी तरह से विद्यमान हैं जिस तरह से स्वतंत्रता प्राप्ति के समय और उससे पहले विद्यमान थे। स्वतंत्र भारत की एक बहुत बड़ी समस्या रिश्वतखोरी है। सरकारी कार्यालयों में चारों तरफ रिश्वतखोरी और भ्रष्टाचार का बोलबाला है।

न्यायपालिका से लेकर कार्यपालिका तक सब आकंठ भ्रष्टाचार में डूबे हुए हैं। इसलिए सामान्य मनुष्य का कोई भी हित इन संस्थानों द्वारा संभव ही नहीं है। एक व्यंग्य साहित्यकार इन परिस्थितियों को पूरी तरह से महसूस करता है और अपने साहित्य के माध्यम से इन समस्त आर्थिक विसंगतियों पर अपनी लेखनी से प्रहार करता है। इन्हीं विषमताओं को उजागर करना और उन पर एक स्पष्ट दिशा निर्धारित करना व्यंग्यात्मक उपन्यासों की प्रमुख प्रवृति माना जा सकता है।

(च) धार्मिक यथार्थ का चित्रण :

भारत धर्म में आस्था रखने वाला देश है। धर्म जीवन से जुड़ा हुआ प्रत्यय है। इसीलिये धर्म की परिभाषा में ही इसे धारण करने योग्य बताया गया है। संसार मे जो कुछ भी धारण करने योग्य है वही धर्म है। धर्म जीवन को नैतिकता के पथ पर अग्रसर करता है। किंतु वर्तमान परिवेश में धर्म को भी विकृ तियों का सामना करना पड़ रहा है। आज धर्म से जुड़े प्रमुख लोग ही धर्म को विकृत करने में लगे हुए हैं। आज धर्म के भीतर पाखंड का समावेश हो गया है। ऐसे लोग धर्म की आड़ में महज आडंबर करते हैं और अपने झूठे आडंबरो द्वारा सामान्य और निरीह जनता को लूटने का काम करते हैं। ऐसे धर्माचार्य और पाखंडी समाज में घूमते हुए यत्र तत्र देखे जा सकते हैं। जिन धर्माचार्यों को हम श्रद्धा व भक्ति के साथ देखते हैं और उन पर विश्वास करते हैं, वही लोग आज धर्म से दूर हो गए हैं। मठों और मंदिरों की स्थिति तो और भी दयनीय हो गई है। वहां देवता के नाम पर केवल उसके चढ़ावे पर पुजारियों और पंडों का ध्यान लगा रहता है। ईश्वर साधना की बात तो कोसों दूर हो चुकी है। मठ और मंदिर में बैठे हुए पुजारी भक्ति भाव के स्थान पर धन अर्जन में निरत है। मठों और मंदिरों में धर्म के नाम पर अनाचार व व्यभिचार फल फूल रहा है। तथाकथित पुजारी अपनी पिपाशा शांत करने के लिए नाना प्रकार के षड्यंत्र करते रहते हैं। जिस संसार से उन्होंने विरक्ति ग्रहण किया, वहां जाकर उसी भवचक्र में फंसे हुए हैं। कभी–कभी तो हद ही हो जाती है जब ईश्वर की मूर्ति के स्थान पर कोई भी मूर्ति भगवान बना दी जाती है और उसकी पूजा करवाई जाती है। पूजा के नाम पर अच्छा खासा चढ़ावा प्राप्त होता है। इसलिए पुजारियों की दृष्टि पूजा पर नहीं बल्कि पूजा के लिए चढ़ाए जा रहे चढ़ावे पर होती है। समाज में अंधविश्वास का बोलबाला है। लोग धार्मिक काम के नाम पर अंधविश्वास फैलाते रहते हैं। समाज में कुछ ऐसी मान्यताएं और परंपराएं विद्यमान है जो औचित्य हीन होते हुए भी लोगों के विश्वास में समाई हुयी है। लोग आंख मूंदकर उन पर विश्वास करते हैं और उन के चक्कर में फंसे रहते हैं। यद्यपि यह परंपराएं और मान्यताएं बहुत समय पहले से ही समाज में विद्यमान है। समय–समय पर कुछ चिंतक तथा विचारक इन मान्यताओं और परंपराओं में संशोधन भी करते आए हैं, किंतु फिर भी वर्तमान परिवेश में ऐसे तमाम अंधविश्वास और कुरीतियां विद्यमान हैं जिनका निराकरण किया जाना अत्यंत आवश्यक है। समाज को उसके वास्तविक मार्ग पर अग्रसर करने के लिए समाज के लोगों को इन अंधविश्वासों और कुरीतियों से बाहर आना होगा। तभी हम एक स्वच्छ और सुधरे समाज का निर्माण कर पाने में समर्थ हो सकेंगे। कभी–कभी धर्म को राजनीति से भी जोड़ दिया जाता है। राजनीतिक नेता अपने राजनीतिक स्वार्थ के लिए धर्म को एक अस्त्र के रूप में प्रयोग करने लग जाते हैं। चूँकि भारतीय जनमानस धर्म को अधिक महत्व देता था, इसलिए राजनीतिक लोग धर्म का राजनीतिक उपयोग करने में जरा भी संकोच नहीं करते। अस्सी के दशक में तो देश की राजनीति में धर्म का हस्तक्षेप बढ़ता गया। वोट की राजनीति ने धर्म को भी विकृत कर दिया है। धर्म के नाम पर आए दिन सांप्रदायिक झगड़े होते रहते हैं, जबकि धर्म का मूल तत्व एक दूसरे से प्रेम करना है। सच्चा धर्म वही है जिसके मूल में सभी धर्मो के प्रति सम्मान का भाव हो। सच्चा मनुष्य भी वही है जो सर्व धर्म समभाव को पुष्ट करता है। किंतु वर्तमान परिस्थितियां पूरी तरह से विपरीत है। देश में धर्म के नाम पर आए दिन हिंदू और मुसलमान आदि अनेक धर्मों के लोग एक दूसरे को नीचा दिखाने के सारे प्रयास करते रहते हैं। यहां तक कि उनके मध्य खूनी संघर्ष भी होने लगता है। इस देश में एक ऐसा भी धर्म विद्यमान है जो धर्म के नाम पर जिहाद करता है और निर्दोष तथा भोली–भाली जनता का रक्त बहाता रहता है। ऐसा धर्म कभी भी स्वीकार करने योग्य नहीं है जो रक्तपात करने की अनुमति प्रदान करता हो। इसीलिए हमारे संविधान की प्रस्तावना में भारत को एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित किया गया जिसमें समस्त धर्मों के प्रति सम्मान का भाव हो। हमें ऐसे भारत का निर्माण करना है जहां सभी लोग सर्वधर्म समभाव और वसुधैव कुटुंबकम की भावना को पुष्ट करते हों। एक साहित्यकार का कार्य समाज में धर्म के क्षेत्र में व्याप्त इन कदाचारों व आनाचारों को जड़ से समाप्त कर पुनः धर्म की स्थापना करना होता है। उस का

प्रमुख उद्देश्य समाज में फैले अंधविश्वास को समाप्त कर एक स्वस्थ वैचारिक संरचना युक्त समाज का निर्माण करना होता है। इसलिए इस कार्य के लिए वह साहित्य का ही सहारा लेता है और अपने व्यंग्यात्मक साहित्य द्वारा इन समस्त कुरीतियों पर व्यंग्य प्रहार करता है। उसका यह कार्य समाज के सुधार की दिशा में एक उपयुक्त कदम हो सकता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि व्यंग्यात्मक उपन्यासों की मुख्य प्रवृत्ति धार्मिक क्षेत्र में उत्पन्न विसंगतियों पर प्रहार करना तथा उन्हें जड़ से उखाड़ फेंकना है।

(छ) सांस्कृतिक यथार्थ का चित्रण :

संस्कृति ही किसी देश की आत्मा होती है। मानव को उसकी संस्कृति ही पशुवत व्यवहार से ऊपर उठाकर श्रेष्ठ मनुष्य बनाती है । संस्कृति शब्द का उद्‌गम संस्कृत भाषा से हुआ है, किंतु संस्कृत और संस्कृति यह दोनों ही शब्द मूल शब्द संस्कार से बने है। संस्कृति का अर्थ विभिन्न संस्कारों के द्वारा सामूहिक जीवन के उद्देश्यों की प्राप्ति है। रॉबर्ट वीरस्टीड़ ने संस्कृति को जटिल और उलझावो से भरा हुआ कहा है। उनके शब्दों में–''संस्कृति वह संपूर्ण जटिलता है, जिसमें वे सभी वस्तुएं सम्मिलित हैं जिन पर हम विचार करते हैं, कार्य करते हैं और समाज के सदस्य होने के नाते अपने पास रखते हैं।''[1]

इस अर्थ में हमें सबसे पहले अपने परिवार की संस्कृति को सुधारना होगा और उसके आधार पर ही सामाजिक संस्कृति का निर्माण किया जा सकेगा। संस्कृति की सर्व प्रमुख विशेषता इसका एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांतरण है। पूरे विश्व में भारतीय संस्कृति का अपना विशिष्ट स्थान है और यह संस्कृति सभी अनुकरणीय है। भारतीय संस्कृति इतनी उत्कृष्ट है कि इसका अनुपालन करने से कभी कोई दिक्कत उपस्थित नहीं होती। हमारी प्राचीन भारतीय संस्कृति हमारी धरोहर है। इस धरोहर को नष्ट करने का भी कई बार प्रयास हुआ। विदेशी आक्रमणकारियों ने व अन्य विचारधारा के लोगों ने इस पर अपनी कुदृष्टि डाली। यद्यपि विरोधी विचारधारा से ओतप्रोत शासकों के शासनकाल में इसे पूरी तरह से नष्ट भ्रष्ट करने का प्रयास किया गया, तथापि यह पूरी तरह अक्षुण्ण रही यह संस्कृति भारतीय जनमानस के ह्रदय में इस कदर रम गई थी कि इसका बाल भी बांका नहीं किया जा सका। यह वह संस्कृति है जो अनेकता में एकता का भाव रखती है और संपूर्ण विश्व को अपना परिवार मानती है। इसलिए यह किसी के लिए भी कभी भी अहितकारी हो ही नहीं सकती। यद्यपि स्वतंत्रता के बाद हमारी भारतीय मूल संस्कृति में भी कई परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। आधुनिक वैज्ञानिक विकास ने हमारी सांस्कृतिक दशा को भी दयनीय स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया है। लोग अपने मूल भारतीय संस्कृति को भूल कर पाश्चात्य संस्कृति में इतना रम गए हैं कि उनके खान पान, रहन सहन व वस्त्र धारण इत्यादि की समस्त विधाएं पूरी तरह से परिवर्तित हो गई हैं। पाश्चात्य संस्कृति ने लोगों के सोचने विचारने और अन्य कार्य करने के ढंग में काफी कुछ परिवर्तन किया है। किंतु यह परिवर्तन इस हद तक पहुंच गया है, जो मर्यादित आचरण में समाहित नहीं हो सकता। देश के युवा वर्ग आज फैशन के नाम पर अनाप–शनाप तरह के कृत्य करते हैं और उनके वस्त्र परिधान तो इस प्रकार बिगड़ गए हैं की उनके पहनावे को देखकर कोई भी सभ्य पुरुष शर्म से नजरें नीची कर लेगा। समाज में अश्लीलता इस कदर फैलती जा रही है कि उसका निराकरण असंभव हो रहा है। ऐसी संस्कृति लोगों में मानसिक विकृति को जन्म दे रही है। अमर्यादित वस्त्रों को धारण किए हुए ऐसे युवक और युवतियां आज हर जगह देखे जा सकते हैं। ऐसे लोग केवल धन अर्जन को ही महत्व देते हैं और उसी के पीछे अपने समस्त नैतिक मूल्य तिरोहित कर देते हैं। सामाजिक क्षेत्र में हो रहे इस बदलाव का प्रमुख कारण टेलीविजन एवं फिल्म जगत को माना जा सकता है। टेलीविजन पर दिखाए जाने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों में वेशभूषा खानपान आदि का जो उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है, सामान्य लोग भी उसी का अनुकरण करने लगते हैं। इस तरह सबसे पहले यह प्रभाव उच्च वर्ग में पनपता है और धीरे–धीरे निस्यंदन सिद्धांत का अवलंबन लेता हुआ निचले पायदान तक पहुंच जाता है। इस प्रकार उच्च वर्ग से चलकर निम्न वर्ग तक विकृतियां फैलती चली जाती है। भारत में एक ऐसी उपभोग करने की संस्कृति पनपने लगी जो हमें अपने मूल सिद्धांतों और अपनी मूल संस्कृति से दूर हटाती जा रही है। यदि हम वर्तमान परिवेश में सांस्कृतिक दशा का मूल्यांकन करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इस संस्कृति में हो रहा है यह विखराव समाज के लिए हितकारी नहीं हो सकता। अतः हमें कुछ ऐसे प्रयास करने होंगे जो हमें अपनी मूल संस्कृत से संबद्ध रखते हो। यद्यपि किसी अन्य सभ्यता के अच्छे क्रियाकलापों और

अच्छी ग्रहण करना बुराई नहीं हो सकती, किंतु कोई भी पाश्चात्य अथवा अन्य संस्कृति के तत्वों को ग्रहण करने से पूर्व हमें उस संस्कृति के विषय में सम्यक विचार करना होगा और यह देखना होगा कि कहीं हम इस संस्कृति के प्रभाव में अपनी मूल संस्कृति को तो नहीं खोते जा रहे हैं ? हमें सिर्फ अच्छाइयों को ग्रहण करना है। हमें विकृतियों उसी प्रकार त्याग देना है, जिस प्रकार किसी निरर्थक वस्तु को त्याग दिया जाता है। प्रत्येक संस्कृति में कुछ न कुछ अच्छाई बुराई तो जरूर होती है और हमें उस में निहित अच्छाई को ग्रहण करते हुए बुराई से बचकर चलना होगा। हमें किसी भी अन्य सभ्यता व संस्कृति के सिर्फ उन्हीं तत्वों को ग्रहण करना होगा जो हमारे लिए उत्तम व श्रेष्ठकर हों। एक साहित्यकार इन समस्त बातों बातों का चिंतन करता है और संस्कृति में हो रहे इस बिखराव पर वह अपनी लेखनी का प्रहार करता है। लेखनी के माध्यम से ही व सांस्कृतिक विकृति को उजागर करता है और उसके शुद्धीकरण की दिशा में एक उच्च कोटि का प्रयास करता है। व्यंग्यात्मक उपन्यास इस दिशा में एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में प्रयोग किए जा सकते हैं। इसलिए एक व्यंग्यात्मक उपन्यास की मुख्य प्रवृति संस्कृति के क्षेत्र में हो रही गतिविधियों पर नजर रखते हुए उसकी विकृति को समाप्त करने का प्रयास करना चाहिए और यह उसकी मूल प्रवृत्ति में शामिल होनी चाहिए।

11. यथार्थ की कटुता से समझौता नहीं :

एक साहित्यकार का सर्व प्रमुख गुण सत्य का साक्षात्कार कराना होना चाहिए, क्योंकि सत्य के बिना कुछ भी संभव नहीं है। वह समाज अथवा किसी अन्य क्षेत्र में विहित विद्रूपताओं को स्पष्ट करने में कभी भी कोई पक्षपात नहीं करता। जहां कहीं भी उसे आवश्यकता पड़ती है वह उसमें जरा भी संकोच अथवा दया का भाव नहीं रखता। इस अर्थ में वह विकृतियों के प्रति अथवा यथार्थताओं के उद्‌घाटन के प्रति कोई समझौता नहीं करता। इस तरह हम कह सकते हैं कि व्यंग्यात्मक उपन्यासकार यथार्थ की कटुता से कभी भी समझौता नहीं करता। चूँकि उसका स्वभाव पलायन वादी नहीं होता, अतः वह अपनी पूर्ण जिजीविषा के साथ परिस्थितियों से संघर्ष करता है और उन परिस्थितियों में परिवर्तन करके उन्हें समाज के लिए उपयोगी बनाने का कार्य करता है। व्यंग्य कहा ही इसलिए जाता है जिससे किसी भी क्षेत्र में विद्यमान विद्रूपताएं बाहर आ जाए। इसमें जो क्षेत्र अथवा व्यक्ति व्यंग्य का लक्ष्य बनता है वह अपने को असहज महसूस करता है। किंतु इस परिस्थिति में वह कुछ कर भी नहीं सकता। व्यंग्य इतना कठोर होता है की चाहते हुए भी सुनने वाला कहने वाले का कुछ नहीं कर पाता। डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहते हैं–''व्यंग्य वह है जहां कहने वाला अधरोष्ठ में हंस रहा हो और सुनने वाला तिलमिला उठा हो और फिर भी कहने वाले को जवाब देना अपने को और भी उपहासास्पद बना देना हो जाता है।''[2]

इस प्रकार एक व्यंग्यात्मक उपन्यास यथार्थ के प्रकटीकरण के लिए पूरी तरह से निष्पक्ष होता हुआ समाज में उपस्थित समस्त विद्रूपताओ का प्रकटीकरण करता है और इस कार्य के लिए वह पूरी तरह से कंटु बना रहता है।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि व्यंग्यात्मक उपन्यासों की प्रमुख प्रवृतियों में समाज में व्याप्त विद्रूपताओं का निराकरण करना समाहित है, और उसमें जो कुछ भी यथार्थ है उसका प्रकटीकरण किया जाता है। यथार्थ के प्रकटीकरण के कारण सत्य स्वयं ही प्रतिष्ठित हो जाता है। इस तरह से उपन्यासों की एक महत्वपूर्ण प्रवृत्ति, सत्य की स्थापना का कार्य स्वयं ही संपन्न हो जाता है। व्यंग्यात्मक उपन्यास समस्त मानवीय जीवन की समीक्षा करता है और उसमें उपस्थित विसंगतियों का निराकरण करके उसके आचरण और उसके व्यवहार में उचित परिवर्तन करता है। मनुष्य अपने जीवन काल में नाना प्रकार की अनुभूतियों और अनुभवों से गुजरता है। इस तरह मनुष्य का संपूर्ण जीवन ही उसकी अनुभूतियों का परिणाम है। एक व्यंग्यात्मक उपन्यास मानव जीवन की इन अनुभूतियों को अपने अंतर में समाहित करता है और उन्हीं अनुभूतियों के सहारे समाज के सुधार का बीड़ा उठाता है। उपन्यास मानव के वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा के रूप में समझा जा सकता है। उपन्यास साहित्य में समाहित सभी घटनाएं यद्यपि काल्पनिक पृष्ठभूमि में रची जाती है, तथापि उनका निष्कर्ष वास्तविक जीवन को प्रभावित करता है। इस प्रकार उपन्यासों में ऐसी ऐसी घटनाएं वर्णित की जाती है जो मानव जीवन को प्रभावित करती हुई प्रतीत होती हैं। एक व्यंग्य साहित्यकार स्वयं के जीवन में जो कुछ भी अनुभूत करता है, उसी को अपने साहित्य में प्रकट करता है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि व्यंग्यात्मक उपन्यास मानव के

वास्तविक जीवन की काल्पनिक कथा होता है। ऐसा साहित्य मानव जीवन के अतीत को आधार बनाकर वर्तमान परिस्थितियों की विवेचना करता है। इस प्रकार यह अतीत का चित्र खींचता हुआ एक दस्तावेज माना जा सकता है। पृष्ठभूमि के बिना कोई भी साहित्य संभव नहीं होता है इसीलिए व्यंग्यात्मक उपन्यास अपनी कथावस्तु के लिए भूतकाल पर निर्भर होता है। साहित्यकार भूतकाल में घटी घटनाओं के आधार पर ही वर्तमान काल की परिकल्पना करता है और उसी के आधार पर अपने साहित्य की सर्जना करता है। यह देश काल तथा परिस्थितियों का चित्रण करता हुआ मानव जीवन की समीक्षा करता है। उसी समीक्षा के आधार पर यह जीवन में व्याप्त विसंगतियों का अन्वेषण करता है। यह मानव जीवन में व्याप्त विसंगतियों को जड़ से उखाड़ फेंकने का पूरा प्रयत्न करता है। एक व्यंग्यात्मक उपन्यास जो कुछ भी यथार्थ है उसी का अन्वेषण करता है और अपने भीतर ऐसी ही भाव सामग्री को स्थान देता है। यथार्थ किसी भी क्षेत्र से संबंधित हो सकता है। एक व्यंग्यकार की दृष्टि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ती है और वह इन समस्त क्षेत्रों में विसंगतियों का अन्वेषण करने में समर्थ होती है। यथार्थ के चित्रण में वह कभी कभी कटुवादी भी हो जाता है। ऐसा कार्य करते समय एक व्यंग्यात्मक उपन्यासकार सदैव निष्पक्ष न्यायाधीश की भूमिका में समाज के सम्मुख उपस्थित होता है।

संस्करण :

श्रीलाल शुक्ल ने कभी भी महानता का मुखौटा नहीं लगाया। उनकी सहज विनम्रता किसी भी व्यक्ति के ह्रदय के जीतने के लिए पर्याप्त थी। उनका पहनावा बेहद साधारण था। उनकी महानता का वर्णन करना सहज संभव नहीं है।

श्रीलाल शुक्ल का साहित्यिक सरोकार :

किसी भी सृजनकर्ता द्वारा किया गया सृजन उसकी विशिष्टता का द्योतक होता है। साहित्य के क्षेत्र में यही तथ्य सत्य सिद्ध होता है। कोई भी साहित्यकार अपने आसपास के माहौल द्वारा प्रभावित होता है और उसी से उसमें सृजनात्मकता के बीज उगते हैं साहित्य सर्जना की दृष्टि से यदि श्रीलाल शुक्ल के सर्जनात्मक सरोकार अध्ययन किया जाए तो हम पाते हैं कि सृजनात्मकता के बीज तत्व उनमें बाल्यकाल से ही विद्यमान थे। श्रीलाल शुक्ल की सर्जनात्मक क्षमता का विकास करने का श्रेय उनके चचेरे चाचा पंडित चंद्रमौली शुक्ल को जाता है। चंद्रमौलि शुक्ल स्वयं एक अच्छे लेखक थे। उन्होंने कई पुस्तकों रचना की थी। छुट्टियों के दिन में जब वह अपने गांव वापस आते थे तो अपने साथ ढेर सारा साहित्य साथ लेकर आते थे। उनके चाचा के पास अनेक तरह की पत्र पत्रिकाएं तथा विशिष्ट तरह के साहित्य उपलब्ध थे। उस साहित्य के विषय में श्री लाल शुक्ला स्वयं कहते हैं–''वहां हमारे लिए चांद, माधुरी, सुधा, सरस्वती, गंगा, हंस, सुकवि काव्य कलाधर, आदि पढ़ने का मौका था । मैंने प्रेमचंद और प्रसाद की कई पुस्तकें, जो उन्हें भेंट की गई थी, उन पर साहित्यकारों के हस्ताक्षरों को बार–बार गौर से देखता था। नागरी प्रचारिणी सभा और गंगा पुस्तक माला, वर्मा और निराला की कृतियां भी थी।''[3]

बालक श्रीलाल शुक्ल उस साहित्य को बड़ी ही रुचि के साथ पढ़ते थे। चाचा के साहित्य को पढ़ते–पढ़ते उनके मन में भी सृजनात्मक क्षमता का विकास होने लगा। उनका ह्रदय साहित्य रचना की ओर अग्रसर हुआ और उनकी महान लेखनी ने अद्भुत साहित्य का सृजन करना प्रारम्भ कर दिया। चूंकि उनका जन्म ग्रामीण परिवेश में हुआ था, शहरों से उनका कोई सरोकार न था, इसलिए ग्रामीण परिवेश की झलक उनके साहित्य में स्पष्टतः दिखाई देती है । 12–13 वर्ष की अवस्था से ही उन्होंने साहित्य सर्जना प्रारंभ कर दी थी। सर्वप्रथम उन्होंने कविताएं लिखना प्रारंभ किया। उनकी कविता में घनाक्षरी जैसे तमाम पद शामिल थे। समकालीन कविताओं में खास तौर पर घनाक्षरी और सवैया की ही अधिकता थी। समकालीन कवियों में बच्चन, सुमन, नेपाली आदि लोग शामिल थे. और वह विशिष्ट प्रकार की सवैया और घनाक्षरी कवि सम्मेलन में प्रस्तुत करते थे। श्रीलाल शुक्ल भी उन्हीं की विधा को अपनाकर घनाक्षरी तथा सवैयों की रचना की। अपने इस कविता सृजन के विषय में श्रीलाल शुक्ल स्वयं लिखते हैं–''सन 1943–44 तक कई घनाक्षरियाँ और दूसरी तरह की कविताएं लिखी । गाकर सुनाने के मामले में मेरा गला हमेशा स्वेच्छाचारी था। कभी–कभी अच्छा खासा जमा भी ले जाता था।''[4]

बाद में उनके द्वारा कुछ कहानियों, निबंधों तथा उपन्यासों की रचना की गई। इस संबंध में स्वयं कहते हैं।–''चौदह–पंद्रह साल की उम्र तक मैं एक महाकाव्य (अधूरा दो लघु उपन्यास (पूरे) कुछ

नाटक, कई कहानियां लिख चुका था। नए लेखकों को सिखाने के लिए उपन्यास लेखन की कला पर एक ग्रंथ भी शुरू किया था, पर वह दो अध्यायों के बाद ही बैठ गया।''[5]

उनका लेखन कार्य नियमित रूप से 1953 से प्रारंभ हुआ। आकाशवाणी से प्रसारित होने वाले कार्यक्रमों की गिचिर पिचिर से परेशान होकर उन्होंने 'स्वर्ण ग्राम' और 'वर्षा' नामक निबंध लिख डाला। यह निबंध उन्होंने धर्मवीर भारती के पास भेजा और धर्मवीर भारती ने इसे 'निकष' नामक पत्रिका के पहले अंक में प्रकाशित करवा दिया। श्रीलाल शुक्ल के प्रसिद्धि की गाथा यहीं से प्रारंभ होती है। उसके पश्चात उन्होंने कई उपन्यास साहित्य का सृजन किया और उनकी सर्जनात्मक क्षमता का अद्भुत उद्घाटन प्रारंभ हो गया।

अंधविश्वास पर कड़ा प्रहार :

आजकल अंधविश्वास को भी धर्म से जोड़ दिया जाता है और लोग उसे एक परिपाटी समझ कर उस पर विश्वास करते हैं। किसी घटना के प्रति लोगों की गलत धारणाएं अंधविश्वास के रूप में सामने आती हैं। राग दरबारी उपन्यास में धार्मिक अंधविश्वास का उल्लेख है जहां वैद्य जी के सपने में स्वयं हनुमान जी आकर उनसे काश के जंगल में गांठ बांधने की बात कह जाते हैं। रंगनाथ एक शोध छात्र होते हुए भी काश के जंगलों में गांठ मारता है और उसे देख कर सनीचर भी इस बात को सुनकर वही गांठ बांधना प्रारंभ कर देता है। गांव के लोग किसी बीमारी को भी अंधविश्वास का स्वरूप प्रदान कर देते हैं। इसीलिए तो 'सूनी घाटी का सूरज' उपन्यास में लोगों की बीमारी दूर करने के लिए देवी को बलि चढ़ाई जाती है। इस पूजा से प्रसन्न होकर देवी जी स्वयं एक महिला के ऊपर सवार हो जाती हैं। इस स्थिति का चित्रण करते हुए श्री लाल शुक्ल लिखते हैं–''कुछ लड़कों की जाने चेचक में समाप्त हुई। शीतला के प्रकोप को बचाने के लिए मजदूरों ने दो बकरों की बलि दी होम किया। एक मजदूरिन को माई का साक्षात्कार होता था। दस बजे तक वह बराबर सिर के बाल खोलकर धरती पर सिर और हाथ पटकती रही और सब स्त्रियां माता के गीत गाती रही।''[6]

ढोंगियों तथा तांत्रिकों का भंडाफोड :

यद्यपि भारत में तंत्र विद्या प्राचीन काल से ही विद्यमान है, किंतु उस प्राचीन विद्या का ज्ञान आज संभवत किसी के पास नहीं है। आधुनिक समय में तंत्र का उपयोग करने वाले लोग वास्तव में कुछ नहीं जानते और अपनी कपोल कल्पित क्रियाओं द्वारा आम जनमानस को भ्रमित करते हैं। ग्रामीण परिक्षेत्र में कुछ लोग तांत्रिकों का स्वरूप बनाकर भोली–भाली जनता को लूटने का कुत्सित प्रयास करते हैं। वे कपोल कल्पित भूतों प्रेतों का भय दिखाकर उनके इलाज के नाम पर अपना गोरखधंधा बढ़ाते रहते हैं। ऐसे लोगों की प्रसिद्ध दूर–दूर तक अपने आप होती चली जाती है। बड़े–बड़े राजनेता पूंजीपति सभी इन तांत्रिकों के दरबार में हाजिरी लगाते हैं। इसी प्रकार का एक प्रकरण पहला पड़ाव उपन्यास में आता है जहां सिद्धनाथ जी एक मशहूर योगी हैं। वह तंत्र विद्या में अत्यंत निपुण माने जाते हैं, जबकि यथार्थ में उन्हें तंत्र विद्या का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं है। शहर के बड़े बड़े व्यापारी और प्रतिष्ठित लोग उनका आशीर्वाद लेने के लिए व्याकुल रहते हैं और उनके दरबार में भीड़ लगाए रहते हैं। इसी की आड़ में सिद्धनाथ जी अपनी समृद्धि में भी वृद्धि करते हैं। इस विषय पर श्री लाल शुक्ल व्यंग्यावधान करते हैं– ''सिद्धनाथ जी शहर के मशहूर योगी हैं, प्रसिद्ध तांत्रिक लगभग सभी बड़े नेता अफसर और व्यापारी उनका आशीर्वाद लेने जाते हैं और उनके सहारे अपनी और देश की संपत्ति बढ़ाते हैं। वे अपने विचार मात्र से अपनी हथेली में अभूत, मेवा, फल कुछ भी प्रकट कर देते हैं वही उनकी सिद्धि है और इस सिद्धि से निकलने वाली उनकी बहुमुखी समृद्धि है।''[7]

भूत–प्रेंत की मान्यताएं :

समाज में वैज्ञानिक ज्ञान के प्रसार ने कुछ हद तक लोगों में अज्ञानता और अंधविश्वास का नाश किया है। किंतु आज भी समाज में ऐसे लोग विद्यमान हैं जो भूत प्रेतों की झूठी मान्यताओं पर विश्वास करते हैं। यहां तक कि वह तो भूत प्रेतों तक को धर्म से जोड़ देते हैं और उनके लिए की जाने वाली क्रियाओ को धार्मिक स्वरूप प्रदान कर देते हैं। समाज में आज भी ऐसे लोग देखे जा सकते हैं जो भूर्ती तथा प्रेतों की मान्यताओं को सच साबित करने का कुत्सित प्रयास करते रहते हैं। ऐसे लोग भूत प्रेतों का उल्लेख करके एक भय का वातावरण निर्मित करते हैं और इसकी आड़ में लोगों का

शोषण करते हैं। भूत प्रेतों में भी सांप्रदायिक व्यवस्था लागू होती है। हिंदुओं में यदि भूत पाए जाते हैं तो मुसलमानों में जिन्न श्रीलाल शुक्ल सूनी घाटी का सूरज उपन्यास में इसी तरह का एक प्रकरण सामने लाते हैं जहां अमजद अली नाम का व्यक्ति उपन्यास के नायक रामदास के समक्ष भूत प्रेतों के माध्यम से अपने धर्म को श्रेष्ठ सिद्ध करते हुए रामदास से कहता हैः–''अरे रामदास इन जिन्नात की न पूछो। कहने को यह मुसलमान है पर यह तुम्हारे हिंदू भूतों से भी बढ़कर भयानक है। तुम्हारे यहां तो भूत पटकता है, प्रेत खाने को दौड़ता है, अगिया बेताल बदन झुलसाने को दौड़ता है। चुड़ैल पास लेट के आदमी का खून चूस लेती है। बरम राक्षस पीपल का पेड़ सिर पर गिरा देता है पर लेता क्या है? ज्यादा से ज्यादा साल छः महीने का बुखार आ जाता है। अरे जिन्नात और खबीस सब के चाचा होते हैं। ब्रह्मराक्षस लग जाए पर खबीस से किसी का पाला न पड़े।''[8]

तीर्थ स्थलों में कदाचार की समस्या :

भारतीय धर्म विधान के अनुसार तीर्थ यात्रा और देव दर्शन पुण्य के कार्य माने गए हैं। ऐसे स्थल पूरी तरह से पवित्र तथा आध्यात्मिक कार्यों से परिपूर्ण होते है। ऐसे स्थानों पर जाकर मनुष्य में ईश्वर के प्रति श्रद्धा तथा विश्वास में वृद्धि होती है और उसके मन से भोग की प्रवृति का नाश होता है। किंतु आधुनिक समय में धार्मिक स्थल अपनी गरिमा खोते जा रहे हैं। ऐसे धार्मिक स्थलों पर तथाकथित धर्माचार्यो और पुजारियो ने एक प्रकार के अनैतिक वातावरण को उपस्थित कर दिया है। बड़े–बड़े मठ और मंदिर भोग और विलासिता के अड्डे बन गए हैं। ऐसे मंदिरों तथा देवालयो में भ्रष्टाचार और कदाचार का बोलबाला है। आए दिन मठों तथा मंदिरों में उनकी संपत्तियों को लेकर विवाद की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। ऐसी अवस्था में जब कोई संभ्रांत व्यक्ति श्रद्धा भाव से मठों और मंदिरों मैं ईश्वर दर्शन के लिए जाता है तो वहां की परिस्थिति का अवलोकन करने के बाद उसके मन में ऐसे स्थलों के प्रति निष्ठा का भाव समाप्त हो जाता है। वहां बैठे पुजारी और पंडित उनका शोषण करने का प्रयास करते हैं। ऐसे लोगों में वैराग्य ग्रहण करने के बावजूद भी लोभ, मोह और माया में कोई कमी नहीं आती और पूरी तरह से विषयों में आसक्त रहते हैं। वह मदिरापान और अन्य तरह की बुराइयों में भी सम्मिलित होते हैं। सीमाएं टूटती है उपन्यास में तारानाथ अयोध्या में स्थित किसी मंदिर में दर्शन करने के लिए जाता है तो मंदिर के सामने चबूतरे पर बैठा एक वृद्ध आदमी उसे मंदिरों के विषय में जानकारी देता है और यह कहता है कि मंदिरों के प्रति उसकी निष्ठा सार्थक नहीं है। वह कहता है–''यहां अब कुछ बचा नहीं है साहेब मंदिरों के ऊपर धड़ल्ले से शराब कबाब चलता है साहेब।''[9]

धर्माचार्यों का पाखंड :

धर्माचायों और साधु–संतों को समाज आदर और सम्मान की दृष्टि से देखता है और उनके ही आचरण को अपने आचरण में समाहित करना चाहता है। किंतु वर्तमान समय में स्थित बिल्कुल इसके विपरीत है। धर्माचार्यों में नैतिक आचरण तो कम किंतु पाखंड की अधिकता होती जा रही है। ऐसे लोग अपने को प्रभावशाली तथा सिद्ध पुरुष प्रदर्शित करने के लिए नाना प्रकार के पाखंड करते हैं। वह अपने को दैवीय अवतार तक घोषित कर देते हैं। दिन रात शरीर में भभूति रमा कर नकली साधना में व्यस्त रहते हैं। राग दरबारी उपन्यास में ऐसे ही एक संत धर्माचार्य का उल्लेख है जो दिन–रात गांजा पीता रहता है और श्री कृष्ण के मुकाबले शंकर जी का अधिक भक्त दिखाई देता है। उसकी चिलम दिन भर धकाधक सुलगते रहती है। देश की जनता ऐसे बाबाओं के पीछे लगी रहती है और उनके गुणगान में व्यस्त रहती है। श्रीलाल शुक्ल ऐसे ही पाखंडी धर्माचार्यों का पर्दाफाश करते हुए कहते हैं–''बाबा जी दो दिन के बाद ही कृष्ण का अवतार मान लिए गए। यह दूसरी बात है कि जमुना का जल न पीकर उन्होंने सिर्फ गांजा पिया और पिशाचों की तरह श्री कृष्ण के मुकाबले वे शंकर भगवान के जरा नजदीक रहे। इस दौरान चिलम धकाधक सुलगती रही और साबित करती रही कि गांजा चाहे चोरी का हो चाहे सरकारी दुकान का और गंगाजल चाहे गंगोत्री का हो या गंदे नाले के संगम का इनका असर हर हालत में बराबर रहता है।''[10]

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षिक, सांस्कृतिक व धार्मिक सभी प्रकार के यथार्थ को अपने अंदर समाहित करते हैं। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यासों की विशिष्टता के रूप में इन सारी यथार्थताओं का प्रकटीकरण को माना जा सकता है। श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास इतने विशिष्ट है कि वह समाज में स्थित विद्रूपताओं और विभीषिकाओं का

अन्वेषण कर लेते हैं और उनके विषय मैं अपनी बेबाक टिप्पणी समाज के सम्मुख प्रस्तुत कर देते हैं। उनके उपन्यासों को पढ़ने के बाद पाठक के मन में एक ऐसा चित्र उपस्थित हो जाता है जिसमें जीवन की विडंबनाएं अपने आप बाहर आने लगती हैं और प्रकट हो जाती है इस विचित्र समाज की यथार्थता।

संदर्भ सूची :

1. डॉ लेखा एम : श्रीलाल शुक्ल का औपन्यासिक यथार्थ एक समाजशास्त्रीयदृष्टि, पृष्ठ–34
2. डॉ हजारी प्रसाद द्विवेदी : कबीर, पृष्ठ–164
3. श्रीलाल शुक्ल यह घर मेरा नहीं : पृष्ठ– 115
4. डॉ अमृतलालप्पा बाडुवाले श्रीलाल शुक्ल के उपन्यास : एक अनुशीलन : पृष्ठ संख्या–14 संस्करण प्रथम –2016
5. श्रीलाल शुक्ल अगली शताब्दी का शहर पृष्ठ 72
6. श्रीलाल शुक्ल : सूनी घाटी का सूरज पृष्ठ 73.
7. श्रीलाल शुक्ल : पहला पड़ाव पृष्ठ–144
8. श्रीलाल शुक्ल : सूनी घाटी का सूरज, पृष्ठ– 34
9. श्रीलाल शुक्ल : सीमाएं टूटती हैं, पृष्ठ 47
10. श्रीलाल शुक्ल : राग दरबारी पृष्ठ– 206

भारत में सोशल मीडिया का बढ़ता दायरा और उसके विभिन्न आयाम

रमापति यादव
शोधार्थी
(समाजशास्त्र विभाग)
वीर बहादुर सिंह, पूर्वांचल विश्वविद्यालय,
जौनपुर, उत्तर प्रदेश

आज का विश्व आधुनिकीकरण तथा संचार का युग है। तकनीकी तथा संचार साधनों के अत्यधिक तीव्र विकास ने समूचे विश्व को एक सूत्र में जोड़ दिया है। जिसमें पूरे विश्व को 'वैष्विक ग्राम' कहा गया है। सूचना एवं संचार स्वयं में एक विकासात्मक पहल है। इस ऐतिहासिक सच को नहीं नकारा जा सकता कि कोई भी व्यक्ति और समाज उतना ही उन्नत होता है जिसके पास जितनी ज्यादा सूचना होती है। अर्थात् सूचना वह शक्ति है जिससे किसी भी व्यक्ति, समाज और देश को एक नयी रफ्तार मिलती है। जब किसी लोकतंत्र में सूचना एवं संचार का दायरा बढ़ता है तो सामाजिक जागरूकता में भी वृद्धि होती है तथा व्यक्ति और व्यक्ति तथा व्यक्ति और समाज के बीच संवाद बढ़ता है।

इस जनसंचार को कई रूपों में परिभाषित किया गया है। सहभागी संचार को आज विकास की कुंजी के रूप में देखा जा रहा है। विकास संचार वैज्ञानिक रोम सी क्यूबवेल के अनुसार विकास संचार एक प्रक्रिया है और यह वृत्तीय रूप में क्रियाशील होती है न कि रेखीय रूप में। वस्तुतः संचार कोई समरूप क्षेत्र नहीं है बल्कि एक व्यापक क्षेत्र है जिसमें विभिन्न विचारधारा, दृष्टिकोण एवं स्तर के लोग मिलेंगे।''[1]

सामाजिक संचार ही जीवन की बुनियाद है। विचारों और अर्थों के आदान–प्रदान में संचार ही सहायक होता है। सार्थक संचार परिवार समाज, व्यक्तियों, लोगों, समूहों, जातियों, विभिन्न मत एवं धर्मों के बीच भ्रम, संदेह, कटुता, शत्रुता, वैमनस्य दूर करने में अत्यन्त सहायक होता है। संचार से समझदारी, सामजंस्य व समन्वय स्थापित होता है। संचार द्वारा लोग अपने विचारों, दृष्टिकोण अथवा मतभेदों को स्पष्ट कर सकते हैं, दूसरों को समझा सकते हैं, उन्हें समझ सकते हैं, सकारात्मक संचार से ही स्वस्थ वातावरण और परिस्थितियों का निर्माण होता है। मानव के अस्तित्व में आने के साथ ही संचार माध्यमों का भी जन्म हुआ है। वैसे तो मानव शाब्दिक तथा अशाब्दिक दोनों प्रकार का संचार करता है परन्तु इसमें शाब्दिक संचार ही ज्यादा सार्थक है। संचार में शब्दों की महत्वपूर्ण भूमिका है।

समाजशास्त्री लुंडवर्ग के अनुसार, ''संचार उस पारस्परिक क्रिया का रूप है, जो प्रतीकों के माध्यम से घटित होता है। ये प्रतीक वित्तीय, मौखिक या किसी अन्य में हो सकते हैं और किसी व्यवहार विशेष के लिए उद्दीपन का कार्य करते है।''

प्रो0 विलानियम के अनुसार– ''जन शब्द का अभिप्राय आकार रहित या आकारहीन, अज्ञात नाम, अव्यवस्थित, ज्यादातर नकारात्मक अस्तित्व लिए हुए है। कोई भी इसके आकार या रूप के विषय में निश्चित नहीं है। लेकिन इस प्रकार सभी सहमत है कि यह एक बड़े तथा वृहत् समूह से सम्बन्धित है। इसे जन समाज कहते हैं। संचार न्याय और सहभागिता को परिवेष्टित करता है। यही स्वस्थ सामाजिक संगठन का आधार है। यदि संचार सामाजिक, आर्थिक वरीयताओं तथा मूल्यों के गौरवपूर्ण उद्देश्यों की सहभागिता को उत्पन्न नहीं करता है तो वह अपने उद्देश्यों से विचलित है।[2]

इसी जनसमाज को सोशल मीडिया (सामाजिक माध्यमों) ने एक सूत्र में पिरो दिया है। मोबाइल तथा कम्प्यूटरों पर इंटरनेट आधारित जनसंपर्क के अनेकानेक साधनों जैसे फेसबुक, व्हाट्सअप, गूगल प्लस, टेलीग्राम, लिंकडिन, ट्वीटर, आर्कुट तथा वेब ब्लाग आदि ने आज संपूर्ण विश्व से लेकर वृहत्तर

मानवीय समाजों तक सूचना संरचण को अत्यन्त त्वरित तथा प्रभावी बना दिया है। जनसाधारण से लेकर सामाजिक एवं राजनैतिक आंदोलनों तक सोशल मीडिया ने अल्प समय में ही अपना एक विशेष स्थान बना लिया है। पिछले डेढ़ दशक में आमजन के बीच सोशल नेटवर्किंग के उपयोग में तेजी से विस्तार हुआ है। स्टेटिस्टा के अनुसार, वर्ष 2017 तक विश्व में सोशल साइट्स के उपयोगकर्ताओं की संख्या 2 अरब 46 लाख हो चुकी है। फेसबुक, ट्वीटर, यूट्यूब, इंस्टाग्राम लिंक्डइन के उपयोगकर्ताओं की संख्या करोड़ो–अरबों में पहुंच चुकी है।[3]

विश्व भर में सोशल मीडिया के विस्तारित होते प्रभाव और क्षेत्र को इस चित्र द्वारा समझा जा सकता है।[4]

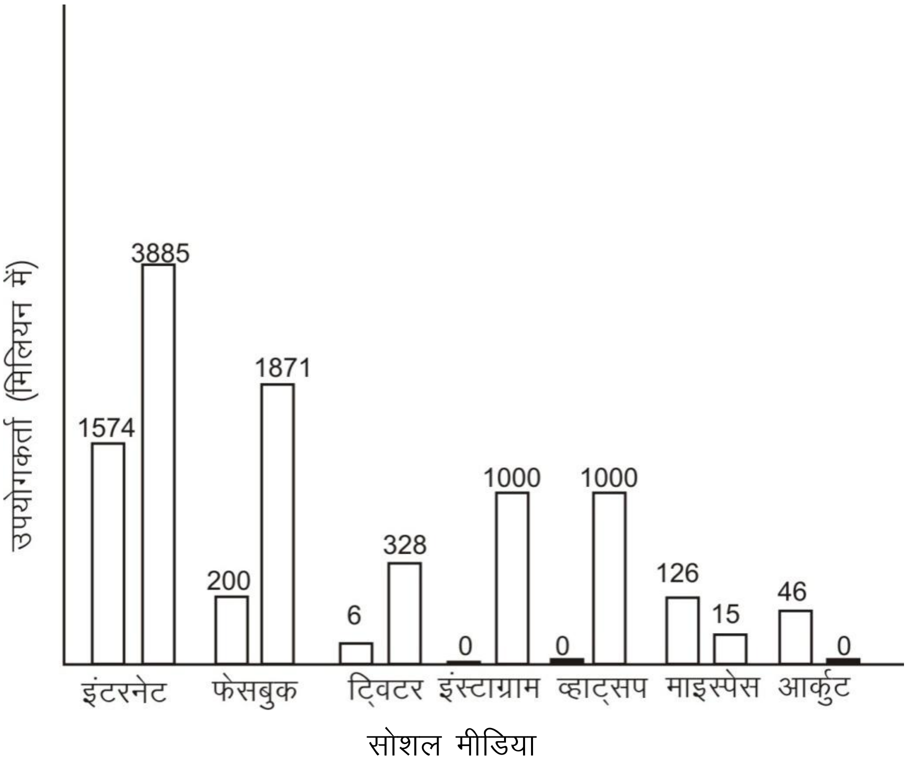

विश्व भर में सोशल मीडिया उपयोगकर्ताओं की संख्या

(2008 तथा 2017 ई0 में)

सोशल मीडिया नागरिक संचार का एक सशक्त रूप है। सोशल तथा मीडिया का मिला–जुला रूप है– सोशल मीडिया। सोशल मीडिया तकनीक और सामाजिक व्यवहार का संकलन है। भारत में मल्टीमीडिया तकनीक से संम्पन्न मोबाइल फोनों तथा त्वरित 3जी और 4जी इंटरनेट की उपलब्धता से भारत में सोशल मीडिया का विस्फोट हुआ है जिसे सहज ही सूचना क्रांति के तीव्रतम विकास का युग कहा जा सकता है। भारत में सोशल नेटवर्क उपभोगकर्ताओं की संख्या व विस्तार 2015 से 2018 तक तथा भविष्वाणी के रूप में 2023 तक इस चित्र में प्रदर्शित किया गया है। आंकड़े मिलियन में प्रदर्शित है। यह आंकड़े Statista.com वेबसाइट से ग्रहण किए गए हैं।[5]

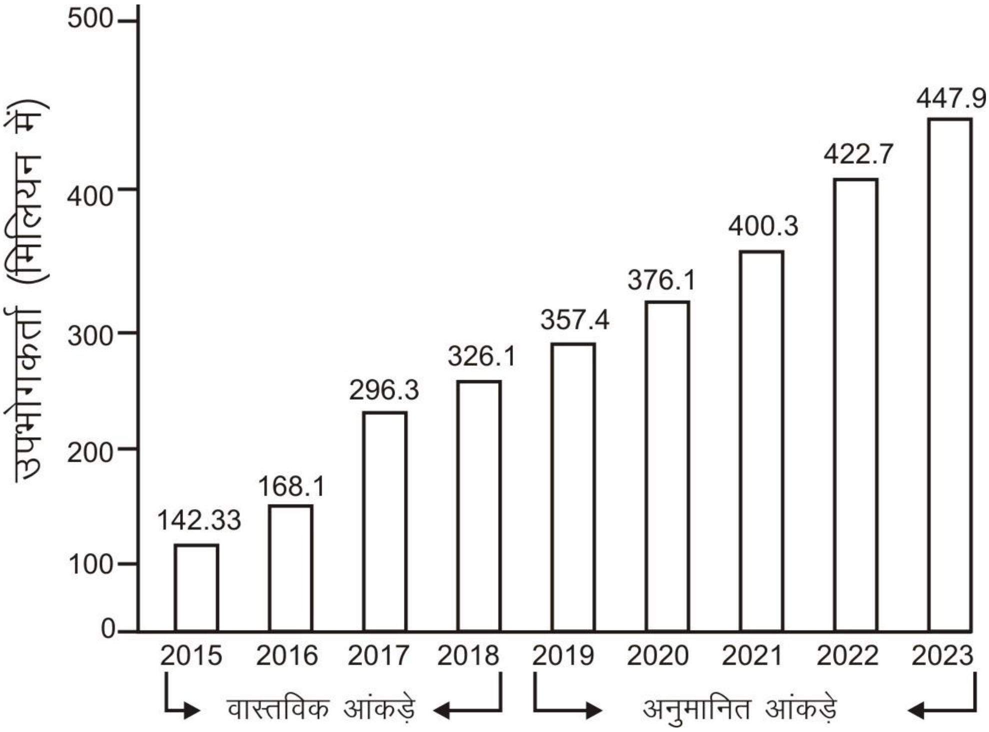

सोशल मीडिया बींसवी सदी की देन है। इसका अर्थ है जनता के एक बड़े समूह अथवा विशाल आबादी तक संदेशों का सम्प्रेषण। सरल अर्थ में यह अधिक से अधिक जनता के बीच संदेश सम्प्रेषण की एक वैज्ञानिक कला है। इससे विचार विमर्श, सूचनाओं के आदान–प्रदान, मनोरंजन आदि सभी क्षेत्रों में 'आभासी' संसार में पहुंच की स्थित संभव है। इस आभासी संसार (Virtual world) में शामिल व्यक्ति या उसके समूह प्रत्यक्षतः भौतिक रूप से नहीं मिलते किन्तु वे इसके बावजूद भी अपनी भावनाएं और विचार परस्पर साझा करते हैं।

सोशल मीडिया उत्तर आधुनिक समाज में प्रचलित विचारों एवं विद्यमान ज्ञान के उपयोगी एवं आवश्यकतानुसार उनके रूपान्तरण की आवश्यकता से प्रेरित है। ''उत्तर आधुनिकतावाद इस मान्यता के केन्द्र में 'भाषा' को रखता है। क्योंकि इसकी दृष्टि में भाषा ही एक ऐसा माध्यम है जो वैचारिक अभिव्यक्ति को संभव बनाता है। .... समय के साथ–साथ इसके लिए ज्ञान भंडार को संचित करने तथा संचार को अधिकतम स्तर तक स्पष्ट एवं तीव्र बनाने की आवश्यकता होती है। यह ज्ञान के रूपान्तरण द्वारा ही संभव है। वर्तमान युग में ज्ञान के परिमाणीकरण, जिसमें कम्प्यूटर एवं संचार क्रांति ने जीवन एवं परिवर्तन की प्रक्रियाओं को तीव्र पथ पर डाल दिया है, की अत्यन्त आवश्यकताहै।[6]

इसी संचार क्रांति से सोशल मीडिया का उद्भव हुआ है जो हमारे सामाजिक लोकवृत्त (Public Sphere) के सभी पक्षों कला, साहित्य, राजनीति, धर्म तथा समाज के सभी पक्षों को स्पष्टतः प्रभावित कर रहा है तथा अब उस पर निर्णायक प्रभाव डालने की स्थिति में है। इधर अन्ना हजारे के भ्रष्टाचार विरोधी आंदोलन, आम आदमी पार्टी के उदय, दिल्ली में निर्भया काण्ड से लेकर राजनीति प्रचारतंत्र में सोशल मीडिया के बढ़ते प्रयोग ने यह स्पष्ट कर दिया है कि भारतीय समाज में अब सोशल मीडिया साधनों का प्रभुत्व अपने चरम पर है तथा उसकी पहुँच बहुत तेज गति से बढ़ रही है।

आज भारत के शहरों और ग्रामीण समाजों में भी सोशल मीडिया का उपयोग तेजी से बढ़ा है तथा इसके प्रति समझ का तीव्र गति से विकास हुआ है। यद्यपि सोशल मीडिया के व्यावसायिक प्रयोग तथा नकारात्मकता के प्रसार की अपनी चुनौतियाँ हैं। सोशल मीडिया में कई समाज विरोधी तत्व भी शामिल हैं जहां धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र वर्गीय विषमता आदि कई विचारों के आधार पर सामाजिक खाई के निर्माण का कार्य भी किया जा रहा है। दलितों से भेदभाव, धर्म सम्बन्धी अतिसंवेदनशील मुद्दों, नारी

अधिकार, राजनीतिक मतवाद आदि कई मुद्दों पर सोशल मीडिया बहुत विभाजित तथा असंवेदनशील है। जिससे भारत को सांस्कृतिक बहुलता तथा समरसता को क्षति पहुंच रही है।

एक स्वस्थ समाज के निर्माण तथा स्वस्थ सोच को साकार करने के लिए जन संचार माध्यमों का सशक्त और सकरात्मक ढंग से कार्य करना अत्यावश्यक है। मीडिया विस्फोट के इस दौर में जब पूरे विश्व में सूचना के आदान–प्रदान की गति बहुत तीव्र हो चुकी हो, ऐसे में देश के युवा वर्ग पर सोशल मीडिया के प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। संचार माध्यमों के त्वरित विकास तथा उसकी बढ़ती भूमिका को स्वीकार करने के बावजूद कुछ वर्ष पूर्व तक यह कल्पना से परे था कि सोशल मीडिया देश को इतनी बड़ी जनसंख्या विशेषतः युवा वर्ग को सोच, विचार, बोध तथा दृष्टिकोण को इतने व्यापक रूप में प्रभावित करेगा। ''सोशल मीडिया ने 2008 से अब तक लम्बी यात्रा तय की है। आज यह हमारे जीवन के सभी क्षेत्रों तथा चुनावों को भी प्रभावित कर रहा है। जो मनोरंजन हम ग्रहण कर रहे हैं जिन नेताओं और पार्टियों का हम समर्थन कर रहे हैं, प्राकृतिक आपदाओं पर हम कैसी प्रक्रिया कर रहे हैं या फिर हम कैसे वोट दे रहे हैं। यह केवल भारत में नहीं है बल्कि सम्पूर्ण विश्व में है। रायटर इंस्टीट्यूट ऑफ जर्नलिज्म के एक नये अध्ययन के अनुसार 40 वर्ष की उम्र से कम अधिकांश व्यक्ति मुख्यतः फेसबुक को अपनी सूचना के लिए प्रयोग करते हैं। लगभग 44 प्रतिशत से अधिक ऑनलाइन प्रयोगकर्ता फेसबुक को समाचार का स्रोत बताते हैं।, 19 प्रतिशत यूट्यूब का जबकि 10 प्रतिशत ट्वीटर को अपना समचार स्रोत बताते हैं।[7]

सोशल मीडिया के इस नेटवर्क ने सभी प्रयोगकर्ताओं विशेषतः युवाओं को अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम दिया है। युवाओं के बीच संवाद तथा सृजनात्मकता का यह प्रमुख माध्यम है। जब से पूर्ण विश्व में युवाओं की ओर सोशल मीडिया की बात की जाए तो भारत भी पहले पायदान पर बना हुआ है।

भारत जैसे देश में जहाँ युवा कुल जनसंख्या का 70 प्रतिशत भाग है, आज सभी क्षेत्रों, जाति, धर्म और देशों के युवा सोशल मीडिया प्लेटफार्म पर दिखाई दे रहे हैं। प्रारंभ में सोशल मीडिया का उद्देश्य समान विचारधारा के व्यक्तियों से बातचीत करना तथा मित्र बनाना था किन्तु अब इसका दायरा विस्तृत और व्यापक हो चुका है। यदि देश के युवा इन माध्यमों के प्रयोग में दक्ष हो तो हम देश को एक वैश्विक शक्ति बना सकते है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :

1. डॉ. धर्मेन्द्र सिंह, सूचना समाज और संचार, नेहा पब्लिशर्स, नई दिल्ली (2010) पृष्ठ 44
2. कृष्ण कुमार मालवीय, आधुनिक जन संपर्क, पृष्ठ–59
3. कृष्ण कुमार मालवीय, आधुनिक जन संपर्क, पृष्ठ–6
4. अर्जुन गोटेवाल, सोशल नेटवर्किंग साइट्स का स्पाइडर वेब प्रतिरूप, मीडिया मीमांसा (अप्रैल–जून 2018), पृष्ठ 46
5. Ankit Lal, India Social (2017), Hachette Books Gurugram, Page-3
6. अशोक कुमार कौल, सुशील कुमार, उच्चतर समाजशास्त्रीय सिद्धान्त, पियर्सन, 2016, पृष्ठ–194
7. Ankit Lal, India Social, (2017), Hachette Books, Guru Gram, Page-10

आधुनिक भारत में किसान आंदोलन

डॉ0 अर्चना गोस्वामी

हिन्दुस्तान आजादी का 75 वां वर्षगाठ तथा 76वां स्वतंत्रता दिवस मना रहा है। राजनीतिक आजादी तो हमे 15 अगस्त 1947 को मिल गयी लेकिन सामाजिक और आर्थिक आजादी हमे पूर्ण रूप से नहीं मिल पायी है। जब तक यह हमें नहीं मिल जाती है तब तक हमारी आजादी का उद्देश्य पूरा नहीं होता। वर्तमान में हम जो किसान आंदोलन को देखते है यह हिन्दुस्तान की देन नहीं है। इसकी जड़े उपनिवेशी शासन से जुड़ी है। 31 दिसंबर 1600 में स्थापित ईस्ट इंडिया कंपनी जिसे पूरब के साथ इंग्लैंड के सभी व्यापार का एकाधिकार प्रदान किया गया था। वे हिन्दुस्तान में एक भेड़िये की तरह अपनी आँखे लाल किये हुए हिन्दुस्तानी शासकों के सामने धूर्तता एवंम् कुटिल मुस्कान से झुकते थे। उन्हें जब भी अवसर मिला उन्होंने अपना असली रूप दिया। किसानों के खून और हड्डीयों को नोचकर अपना साम्राज्य स्थापित किया। इन्होंने जनविद्रोह को अनपढ़ किसानों के बर्बरतापूर्ण और हिंसात्मक कार्य सम्प्रदायिक दंगों, डकैती आदि की संज्ञा देते हुए इन्हें केवल कानून और व्यवस्था की समस्या बताया। परन्तु आधुनिक शोधकार्यों ने इन सरकारी पूर्वधाराणाओं का खंडन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि जब हिन्दुस्तानियों ने शोषण के खिलाफ आवाज उठाई तो उन्होंने अंग्रेजों के साथ उन हिन्दुस्तानियों को भी चुनौती दी जो उनके शोषक थे।

अंग्रेजों ने जिस प्रक्रिया से हिन्दुस्तान को उपनिवेश में बदलकर उसका शोषण किया, उसी प्रक्रिया ने, उन कारणों को भी जन्म दिया जो उस सत्ता के खिलाफ शुरू हुए विभिन्न किसान आंदोलनों के पीछे निहित थे। 1772 में जब वॉरेन हेस्टिंग्स हुए गवर्नर बना तो उसने भूमिकर व्यवस्था की ओर विशेष ध्यान दिया, परंतु इससे महत्वपूर्ण परिवर्तन कॉर्नवालिस ने ही किया। उसने 1793 में स्थायी बंदोबस्त लागू किया। इसी बीच टॉमस मुनरो ने मद्रास मे ंऔर 1824 में एलफिस्टन ने बंबई में रैयतवाड़ी व्यवस्था लागू की। 1819 में होल्ट मेकेंजी ने पश्चिमोत्तर प्रदेश में महलवाडी व्यवस्था को जन्म दिया। इसमें कुछ परिवर्तन करके विलियम बेंटिक ने इसे पंजाब और मध्यप्रदेश में लागू किया । इस प्रकार अंग्रेजों ने भूमिकर व्यवस्था में परिवर्तन करते हुए अपनी वित्तीय स्थिति को संतुलित किया। परंतु इन नीतियों ने भूमि से जुड़े हुए व्यक्तियों के अधिकारों और ग्रामीण संबंधों में जो परिवर्तन किए, उससे किसानों का आर्थिक शोषण हुआ। अपने साम्राज्य को स्थायित्व प्रदान करने के लिए अंग्रेजो ने जिस प्रशासनिक व्यवस्था को जन्म दिया, उसका आधार सेना पुलिस, न्याय व्यवस्था, राजस्व विभाग और नौकर शाही था। लॉर्ड कार्नवालिस ने 1793 में जमीदारों को पुलिस के कामों से वंचित करने का निर्णय किया और इसकी जगह उसने जिलों को थानों अर्थात बीस से तीस वर्गमील की इकाइयों में बाँटा, हर थाने को दारोगा नामक एक नए अधिकारी के अंतर्गत रखा और दारोगाओं की नियुक्ति एवं निगरानी का काम मजिस्ट्रेरों के हाथों में दिया। इस तरह दारोगा दीवानी वाले प्रांतों में कंपनी सरकार के नियंत्रण का नया साधन बन गया या किसानों की नजरों में कंपनी बहादुर की शानो–शौकत का स्थानीय प्रतिनिधि बन गया। इस तरह कालांतर में जहाँ एक और युद्ध और कूटनीति के माध्यम से हिन्दुस्तान अंग्रेजी अधिपत्य का विस्तार हुआ, वहीं दूसरी ओर नवनिर्मित और विकसित प्रशासनिक व्यवस्था की सहायता से अंग्रेजी सत्ता का सुदृढीकरण किया गया। हम यहाँ किसान आंदोलन के अन्तर्गत किसान और आदिवासी दोनों को एक ही श्रेणी मे रखेंगे।

जहाँ तक किसान आन्दोलन के स्वरूप का प्रश्न है वह इतिहासकारों के अध्ययन के द्वारा के वर्गी उसका वर्गीकरण किया जा सकता है। कैथलीनगफ ने किसान आंदोलन को पाँच श्रेणियों में विभाजित किया है, प्रथम पुनः स्थापना विद्रोह, द्वितीय धार्मिक आंदोलन, तृतीय सामाजिक डकैती, चतुर्थ आतंकवादी प्रतिशोध एवं पाँचवां विद्रोह। लेकिन इस संबंध में सुरेश कुमार के विचार अधिक महत्वपूर्ण है। प्रारंभ में उन्होंने ने भी पाँच प्रकार से विभाजित किया लेकिन बाद में उन्होंने इस आधार पर कि

ब्रिटिश शासन काल के दौरान सभी किसान विद्रोह एक ही समय या एक ही कारण का परिणाम नही थें । उन्होंने इसके अंतर्गत तीन चरणों को स्पष्ट किया। अधिकतर इतिहासकारों ने इसी तरीके को स्वीकार किया है। प्रथम प्राथमिक विरोध आंदोलन, द्वितीय – गौण विरोध आंदोलन, तृतीय – लौकिक विरोध आंदोलन। किसान आंदोलनों के वर्गीकरण का एक तरीका उनमें निहित विरोध प्रकट करने के माध्यमों के आधार पर भी है। इसका प्रयोग हॉब्सबॉम, रणजीत गुहा, स्टीफन फुक्स आदि इतिहासकारों ने अपने अध्ययन में किया है।

आधुनिक भारत में किसान आंदोलन की तीन चरण दिखायी पड़ती है। पहली अवस्था असंतुष्ट स्थानीय के शासकों, मुगल अधिकारियों और संपत्ति से वंचित जमीदारों ने किया। अधिकांश मामलों में उनको स्थानीय किसानों का समर्थन मिला, जिनका उद्देश्य पुरानी व्यवस्था को या पहले के खेतिहर संबंधों को बहाल करना था। जिसको कैथलीनगफ ने ''पुनः प्रतिष्ठा विद्रोह'' कहा है। इस क्रम में 1778–81 के दौरान बनारस के राजा चैतसिंह और दूसरे जमीदारों के विद्रोह, 1799 में अवध के अपदस्थ नवाब वजीर अली का विद्रोह, 1842 में बुंदेला राजपूत सरदारों का विरोध, 1799 और 1805– के बीच पालेगरो का विद्रोह, त्रावणकोर रजवाड़े के दीवान वेल्लु थंपी का विद्रोह आदि। इन विद्रोहियों ने जब कंपनी के दस्तों का प्रतिरोध किया तो, स्थानीय किसान समाज ने उनका न केवल खुलकर समर्थन किया, बल्कि उनको लोकनायक तक बना दिया। लेकिन 1783 का रंगपुर विद्रोह किसान विद्रोह का एक आदर्श उदाहरण है। रंगपुर के किसान नेताओं में विद्रोह के लिए किसानों पर एक शुल्क लगाया। सार्वजनिक सम्मेलन, सभाएँ और योजनाबन्दी भी जारी रहीं, जो निश्चित ही एक कार्यक्रम का सूचक थी। जहॉ तक किसान विद्रोहों के नेतृत्व का प्रश्न है, तो यह स्वयं विद्रोहियों की कतारों में से मिला। दूसरी अवस्था अनेक किसान आंदोलनों में धर्म ने एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, अर्थात उनके धर्म ने ही उनको प्रतिरोध की विचारधारा का निरूपण किया। इस क्रम में 1963–1800 के बीच सन्यासी–फकीर विद्रोह, 1824 के आसपास पागलपंथी विद्रोह, तरीका–ए–मुहम्मदिया विद्रोह, फराइजी विद्रोह आदि । उपनिवेशी काल मे बदलते आर्थिक संबंधों ने किसानो का दुख बढ़ाया और उसकी इन विभिन्न विद्रोहों में व्यक्त हुई। उपनिवेशी शासन का परिणाम वही हुआ जिसे रणजीत गुहा ने ''जमीदारी का पुनर्जन्म'' कहा है कलकत्ता का भद्रलोक ब्रिटिश साम्राज्य में आस्था रखता था और इसलिए उसने जोश के साथ किसान विद्रोहियों की आलोचना की; फिर भी उसने यह मुद्दा उठाया कि वफादार संथालों ने साम्राज्य के विरुद्ध अकारण ही हथियार नहीं उठाए थे। चूँकि ब्रिटिशराज ने सूक्ष्मता के साथ हिंसा का एकाधिकार स्थापित किया था, इसलिए उसकी प्रजा ने भी उसका जवाब उतनी ही अधिक जवाबी हिंसा के साथ दिया ।

1857–58 के विद्रोह में किसान वर्ग की स्वतंत्र लामबंदी के प्रमाणों को अय अनदेखा कर सकना कठिन है। 1857 का विद्रोह, जिसे एक लंबे समय तक बंगाल की सेना के भारतीय सिपाहियों का गदर मात्र समझा जाता रहा, वास्तव में उत्तर भारत के दुखी ग्रामीण समाज की भी हिस्सेदारी थी। जिसके कारणों में केवल सेना का असंतोष ही नहीं, बल्कि उस बुनियादी सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की एक लंबी प्रक्रिया में है, जिसने कंपनी राज की पहली सदी में किसान समूदायों को तबाह कर दिया। सर जेम्स आउट्रम ने पहले ही डलहौजी को चेता दिया था कि संभवतः बिना किसी अपवाद के, अवध का हर एक खेतिहर परिवार अपना एक सदस्य भेजता है। चूंकि ये सिपाही वर्दीधारी किसान थे, इसलिए अवध के चलताऊ बंदोबस्तों के कारण किसानों की बिगड़ती दशा को लेकर भी वे चिंतित थे। 1857 के विद्रोह से पहले ये सिपाही लगभग चौदह हजार प्रार्थनापत्र मालगुजारी व्यवस्था के कारण पैदा समस्याओं के बारे में दे चुके थे। दूसरी ओर जिन लोगों ने विद्रोह किया उनमें भी दो तत्त्व थे– एक तो सामंती और बड़े भू–स्वामी तथा दूसरे किसान अवध, मे जैसा कि रुद्रांशु मुखर्जी ने मिश्र दिखाया है, वाल्लुकदारों की भागीदारी कभी भी पूरी नहीं रहीं, कुछ वफादार बने रहे, कुछ ने गद्दारी की, दूसरो ने बीच का रास्ता अपनाया और कुछ ने तो ब्रिटिश सेना को आते देखकर ही हथियार डाल दिए। अनेक क्षेत्रो में किसानों और दस्तकारों ने ताल्लुकदारों को विद्रोह में भाग लेने पर विवश किया, जबकि कुछ मामलों में जब ताल्लुकदारों ने अंग्रेजों से सुलह कर ली तब भी किसानों ने विद्रोह जारी रखा। सबसे बड़ी बात यह है कि मुख्य पहल सिपाहियों यानी वर्दीधारी किसानों ने की, जो अब अपनी वर्दी उतारकर फिर किसानों में जा मिले थे ।

1857 का विद्रोह भारत हिंदुस्तान के इतिहास में एक महत्वपूर्ण विभाजन रेखा है, और सबसे पहली बात यह कि उसने ईस्ट इंडिया कंपनी का शासन समाप्त कर दिया। हिंदुस्तान में शांति के पूरी तरह पुनर्स्थापित होने के पहले ही ब्रिटिश संसद ने 2 अगस्त 1858 को भारत में बेहतर शासन के लिए एक कानून पारित किया, महारानी विक्टोरिया को ब्रिटिश भारत की महारानी घोषित किया और,एक भारत सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट फॉर इंडिया) की नियुक्ति का प्रावधान किया जो ब्रिटिश मंत्रिमण्डल का सदस्य होता। बरनार्ड कोहन ने सूत्ररूप में इस तरह रखा है, 'अवधारणा और दृष्टि से देखे तो अंग्रेज जिन्होंने बाहरी के रूप में अपने शासन का आरंभ किया, अपनी महारानी को भारत की प्रभुसत्ता से लैस करके अंदरूनी बन बैठे।

तीसरी अवस्था मध्यवर्गीय मध्यस्थता के प्रभाव जो उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध के लगभग सभी किसान आंदोलनों की एक नई विशेषता थी। जिसे रवींदर कुमार के शब्दों में ''ग्रामीण समाज और प्रशासन के बीच संवाद के एक माध्यम के रूप में। दूसरे शब्दों में अपने क्रोध को व्यक्त करने या मौजूदा अन्यायों का प्रतिकार करने के लिए एक विस्तृत और वैध क्षेत्र के रूप में ब्रिटिश संस्थाओं को अपनाया जैसे अदालतों को। इस क्रम में 1959–60 का नील विद्रोह, 1873–76 का पवाना विद्रोह, 1874 का दक्कन का विद्रोह, 1999–1900 का मुंडा उन्मूलन, 1879 के रंपा विद्रोह, 1886–1904 टेहरी गढवाल आन्दोलन, चंपारण किसान आंदोलन, खेड़ा सत्याग्रह, उत्तर प्रदेश में किसान आंदोलन, बारदोली सत्याग्रह, तेभागा आंदोलन,तेलंगाना आंदोलन तथा गांधी जी के आगमन के बाद भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश– राज विरोधी संघर्ष में इस शक्ति को समेटने के प्रयास किए।

भू–राजस्व नीतियों की भिन्नता के बावजूद किसानों किसान निर्धन हुए। भारत गांवों में बसता था और गांवो में किसानों के निर्धन होने से गांव तो निर्धन हुये ही भारत भी निर्धन हुआ। अगर विकास चाहिए तो उसकी कीमत भी चुकानी होगी। अब यह बात अलग है कि यह किमत हमेशा किसान, आदिवासी जैसे लोग ही चुकाते है। प्रशासनतंत्र और नीतिनियंता दोनो मिलकर अगर किसी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से शिकार करते है तो तलछट के बांशिदों का! जिनके बारे में जैसा की बारबार कहाँ गया है कि, ''उनके पास बेचने को सिर्फ अपना श्रम होता है'' और जो वाद में हमेशा बहुसंख्यक होते हुए भी सत्ता के खेल में हमेशा हाशिये पर ही होते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. आर० एल० शुक्ल – आधुनिक भारत का इतिहास – 2006 हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय।
2. शेखर बंदोपाध्याय –पलासी से विभाजन तक और उसके बाद 2016. ओरियंट ब्लैकस्वॉन प्राइवेट लि0 नई दिल्ली 110002
3. सुमित सरकार –आधुनिक भारत (1805–1947) – 2010 राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, नई दिल्ली, 110002

हिन्दी कहानी की विरासत

डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय
प्रधान सम्पादक
''शोध'' (रिसर्च जर्नल)

(क) प्रस्थान

मानव–सभ्यता के विकास–क्रम में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन ऐसे रहे जिन्होंने मानव–सभ्यता के विकास की दुनिया को ही परिवर्तित कर दिया। आग व पहिए के अविष्कार के बाद भाषा का अविष्कार निःसंदेह एक क्रान्तिकारी घटना रही होगी। इससे पूर्व मानव अपनी अनुभूतियों व विचारों को या तो संकेतों के माध्यम से व्यक्त करता होगा अथवा चित्र बनाकर। भाषा के रूप में उसे एक ऐसा सशक्त माध्यम उपलब्ध हो गया जिससे न केवल वह अपने सुख–दुःख, आशा–निराशा को एक–दूसरे से बाँटने में सक्षम हुआ; अपितु अपनी जरूरतों को पूरा करना भी उसके लिए अब अपेक्षाकृत सरल हो गया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, परन्तु समाज की कल्पना बिना भाषा के अधूरी थी। इस प्रकार भाषा की उत्पत्ति के साथ ही समाज अस्तित्व सामने आया।

आरम्भ के लोग एक–दूसरे के सामने बैठकर कहानियाँ सुनते थे। लिपि चिह्नों के विकास ने मानव को अपनी अनुभूतियों को एक लम्बे समय तक सहेज कर रखने का मार्गप्रशस्त किया। आगे चलकर कहानियाँ लिखी व पढ़ी जाने लगीं। ''इतना निश्चित है कि भारत में कहानी की परम्परा पाश्चात्य प्रभाव से हरगिज विकसित नहीं हुई क्योंकि लोक और शास्त्र, दोनों में कहानी की एक समृद्ध परम्परा रही है। ....संक्षेप में कहें तो भारतवर्ष में कथासाहित्य का विशाल भण्डार रहा है। ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धार्मिक वाङ्मय में उपदेशपरक कथाओं की परम्परा तो है ही, स्वतन्त्र रूप से भी नीतिकथा और लोककथा की परम्परा चली आ रही है। नीति कथा के पात्र मानव, मानवेतर पशु–पक्षी रहे हैं। नीतिकथाएँ तो भारत की सीमा लाँघकर बाहर तक फैल चुकी हैं। 'पंचतन्त्र' ऐसी ही नीति कथाओं का आगार है। इसी परम्परा में हितोपदेश भी आता है। इन कथाओं में दोनों पक्षों पर बल है– कुतूहलतर्यक घटना–श्रृंखला की भी और वर्णनों द्वारा मार्मिकता लाने की भी।''

सर्वप्रथम भारतवर्ष में ही लिखित कहानी का उद्भव हुआ, ऐसी मान्यता अधिकांश विद्वानों की है क्योंकि ऋग्वेद में कहानी के बीज मिलते हैं और ऋग्वेद को संसार का प्राचीनतम ग्रन्थ होने का गौरव प्राप्त है। लिपिबद्ध कहानियों की यह परम्परा ऋग्वेद से आरम्भ होकर आज तक चली आ रही है। इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कहानी के आविर्भाव से पहले कहानी की एक लम्बी परम्परा भारतवर्ष में मिलती है। यह परम्परा वैदिक संस्कृत, लौकिक संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य से होती हुई हिन्दी साहित्य तक चली आई है। ऋग्वेद के संवाद–सूक्त, उपनिषदों की रूपक कथाएँ, रामायण की अन्तर्कथाएँ, महाभारत के उपाख्यान, जातक कथाएँ, वृहत्कथा, वासवदत्ता, दशकुमारचरित, कादम्बरी, वृहत्कथाश्लोक, कथासरितसागर, वैताल पंचविंशतिका, शुकसप्तति, सिंहासन द्वात्रिंशिका, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, प्राकृत तथा अपभ्रंश में प्राप्त कथाकाव्य, हिन्दी के आदिकाल के चारण काव्य तथा मध्यकाल के प्रेमगाथाकाव्यों, वैष्णववार्त्ताओं और अन्ततः भारतेन्दुकालीन कथात्मक रचनाओं में हिन्दी कहानी के आविर्भाव से पूर्व कहानी का विकास क्रम देखा जा सकता है।

(ख) प्रगति

स्वतन्त्रतापूर्व हिन्दी कहानी

आधुनिक हिन्दी कहानी का उद्भव बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष से ही माना जाता है। महावीर प्रसाद द्विवेदी और उनके द्वारा सम्पादित पत्रिका 'सरस्वती' को इसका श्रेय दिया जाता है। इससे पूर्व भारतेन्दुकाल में जो कथात्मक गद्य साहित्य उपलब्ध होता है, वह कलात्मक रूप से कहानी विधा में नहीं

आता। हिन्दी कहानियों का प्रारम्भ अधिकांश विद्वानों और हिन्दी साहित्य इतिहास लेखकों ने एक स्वर से 'सरस्वती' के प्रकाशन से स्वीकार किया है। 'सरस्वती' के प्रारम्भिक अंकों में प्रकाशित रचनाओं में हिन्दी कहानी की स्वरूप रचना हो रही थी। 'सरस्वती' के माध्यम से अनेक प्रकार के प्रयोग हो रहे थे। ''इन प्रयोगों में शेक्सपीयर के नाटकों के इतिवृत्त के आधार पर वर्णनात्मक शैली में लिखी गई कहानियाँ, स्वप्न कल्पनाओं के रूप में रचित कहानियाँ, सुदूर देशों के कल्पनात्मक चरित्रों को लेकर लिखी गई संवेदनात्मक कहानियाँ, कल्पनात्मक यात्रा वर्णन की कहानियाँ, आत्मकथात्मक रूप में प्रस्तुत कहानियाँ, संस्कृत नाटकों की आख्यायिकाएँ तथा घटना–प्रधान सामाजिक कहानियाँ प्रमुख हैं।'' इस प्रकार हिन्दी कहानी को एक नवीन विधा के रूप में स्थापित करने में 'सरस्वती' पत्रिका की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही है।

हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी के प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। इस सन्दर्भ में डॉ. सुरेश सिन्हा ने अपना मत प्रकट करते हुए आरम्भिक कहानियों की निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत की है–'रानी केतकी की कहानी', 'राजा भोज का सपना', 'अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न', 'इन्दुमती', 'गुलबहार', 'प्लेग की चुड़ैल', 'ग्यारह वर्ष का समय', 'पंडित और पंडितानी', 'दुलाईवाली'। उपर्युक्त तालिका के अतिरिक्त कहीं–कहीं माधव प्रसाद मिश्र कृत 'मन की चंचलता' (1894), तथा माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901) आदि कहानियों का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु अधिकांश विद्वान 'सरस्वती' में प्रकाशित किशोरीलाल गोस्वामी की 'इन्दुमती' (1900) को ही प्रथम मौलिक कहानी के रूप में स्वीकारते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मत इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है–''इनमें यदि मार्मिकता की दृष्टि से भावप्रधान कहानियों को चुनें तो तीन मिलती हैं– 'इन्दुमती', 'ग्यारह वर्ष का समय', और 'दुलाईवाली'। 'इन्दुमती' किसी बंगला कहानी की छाया नहीं है तो हिन्दी की यही मौलिक कहानी ठहरती है। इसके उपरान्त 'ग्यारह वर्ष का समय', और 'दुलाईवाली' का नम्बर आता है।''

प्रारम्भिक हिन्दी कहानियों में वर्णनात्मकता, स्थूलता, घटनात्मकता, आकस्मिकता और कुतूहलपूर्णता विद्यमान है। इस तरह इन कहानियों में आधुनिक हिन्दी कहानी के विकास के लक्षण विद्यमान हैं। प्रेमचन्दपूर्व हिन्दी कहानियों में कहानी विधा को सशक्त आधार देने व कलात्मकता की ऊँचाई पर ले जाने का श्रेय चन्द्रधर शर्मा गुलेरी कृत 'उसने कहा था' (1912) को जाता है। यह कहानी सृजनात्मकता और रचनात्मकता की अनुपम कहानी है। भाव, संवेदना, शिल्प व उद्देश्य की दृष्टि से भी इस कहानी ने हिन्दी कहानी के इतिहास में मील के पत्थर का काम किया। एक बिल्कुल नये विषय को जिस कौशल से इस कहानी में प्रस्तुत किया गया है उसकी प्रशंसा में विजयमोहन सिंह लिखते हैं– ''प्रथम महायुद्ध इस कहानी में पृष्ठभूमि नहीं, कथाक्षेत्र है जिसकी कल्पना भी उस समय असम्भव थी। प्रथम तो क्या द्वितीय महायुद्ध पर भी हिन्दी में शायद ही कोई महत्त्वपूर्ण कहानी लिखी गई हो। इस कहानी का शीर्षक ही जिस तरह पूरी कहानी में मंडराता रहता है वह रचनात्मकता के उन्मेष का विलक्षण उदाहरण है। प्रविधि के रूप में तब तक 'पूर्व दीप्ति' (फ्लैश बैक) और चेतना का प्रवाह (स्ट्रीम ऑफ कांससनेस) का नाम हिन्दी में सुना नहीं गया था जिसका इस कहानी में अपूर्व कौशल से उपयोग किया गया है।''

प्रेमचन्द के आगमन से हिन्दी कहानी को एक नई दिशा एवं दृष्टि मिली। यद्यपि वे सन् 1907 से ही उर्दू में कहानियाँ लिखने लगे थे, किन्तु सन् 1916 में जब उनकी 'पंच परमेश्वर' कहानी 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई, तब से वे हिन्दी कथा क्षेत्र के महत्त्वपूर्ण लेखक के रूप में जाने–पहचाने गये। उन्होंने कहानी के प्राचीन कथा–शिल्प को तोड़कर युगानुरूप उसे नया रूप–रंग प्रदान किया। उन्होंने सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर मानवीय संवेदना और हिन्दी कथा संसार से देवता, राजा और ईश्वर को अपदस्थ करके दीन, दलित, शोषित प्रताड़ित मनुष्य को नायक के पद पर प्रतिष्ठित किया। विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक, सुदर्शन, ज्वालादत्त शर्मा आदि प्रारम्भिक लेखक प्रेमचन्द के ढंग पर आदर्शोन्मुखी यथार्थवादी कहानियाँ लिख रहे थे। उनकी कहानियाँ घटनाप्रधान और इतिवृत्तात्मक हैं।

इस युग के एक अन्य महत्त्वपूर्ण कहानीकार भुवनेश्वर भी हैं। भुवनेश्वर को कहानीकार के रूप में प्रतिष्ठा नहीं मिली। उन्हें एक एकांकी नाटककार के रूप में स्वीकृति दी गई। लेकिन वे एक सशक्त कहानीकार भी थे। उन्होंने भी चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की ही तरह बहुत कम कहानियाँ लिखी, लेकिन ये

कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इसलिए उन्हें हिन्दी कहानी के इतिहास से बाहर नहीं किया जा सकता। भारत भारद्वाज के शब्दों में– ''हिन्दी कथा–साहित्य के इतिहास में भुवनेश्वर का उल्लेख नहीं किया गया तो यह कहानी इतिहासकार की भूल थी कि उन्होंने अपने विवेक का परिचय नहीं दिया, लेकिन भुवनेश्वर कहानीकार के रूप में इससे ओझल नहीं हो जाते। भुवनेश्वर ने कहानियाँ भी लिखीं हैं और ये कहानियाँ हिन्दी कहानी के विकास से कटी हुई नहीं हैं, बल्कि जुड़ी हुई हैं। ये कहानियाँ हाशिये की कहानियाँ नहीं हैं बल्कि हिन्दी कहानी के बीच की कहानियाँ हैं। भुवनेश्वर की कहानियों का महत्त्व इस बात से भी प्रकट होता है कि प्रेमचन्द जैसे महत्त्वपूर्ण कथाकार ने न केवल भुवनेश्वर की कहानियों पर लिखा बल्कि उनकी कहानी 'मौसी' को अपने एक कहानी–संकलन में संगृहित भी किया।''

जयशंकर प्रसाद मूलतः रोमांटिक कहानीकार हैं। इनकी कहानियों में प्रेम और भावात्मकता की प्रधानता है। इनकी सफल कहानियाँ प्रेम और अन्तर्द्वन्द्व को लेकर चलती हैं, जिनमें 'आकाशदीप', 'पुरस्कार' आदि प्रमुख हैं। यशपाल प्रेमचन्द के सामाजिक यथार्थ को मार्क्सवादी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने वाले उल्लेखनीय कहानीकार हैं। रांगेय राघव, भैरवप्रसाद गुप्त, नागार्जुन आदि कहानीकार इसी वर्ग के महत्त्वपूर्ण कहानीकार हैं। जैनेन्द्र कुमार और इलाचन्द्र जोशी ने मनोवैज्ञानिक यथार्थ को केन्द्र में रखकर अपनी कहानियों में मानव–मन को चित्रित किया। इन कहानीकारों पर फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का गहरा प्रभाव है। अज्ञेय इस परम्परा के तीसरे महत्त्वपूर्ण कथाकार हैं। इनकी कहानियों में सार्त्र आदि अस्तित्ववादी चिन्तकों का प्रभाव दिखाई देता है। इन कहानीकारों के मध्य कुछ कहानीकार ऐसे भी थे जिन्होंने किसी विचार विशेष से प्रभावित न होकर स्वतन्त्र रूप से लेखन किया। ऐसे कहानीकारों में भगवतीचरण वर्मा और उपेन्द्रनाथ अश्क मुख्य हैं। विष्णु प्रभाकर, द्विजेन्द्र नाथ 'निर्गुण' तथा अमृतराय भी स्वतन्त्रता से पहले के प्रमुख कहानीकार हैं।

स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी कहानी

सन् 1947 में भारत आजाद हुआ। सदियों की गुलामी के बाद भारतीय जनमानस एक नये सवेरे को उल्लासपूर्ण नजरों से देख रहा था। अब उनके सारे सपने और आकांक्षाएँ पूरी होने वाली हैं, इसके प्रति आश्वस्त भारतीय जनता नये जोश व नई स्फूर्ति से ओत–प्रोत थी। कमलेश्वर के शब्दों में– ''देश का वैचारिक पुनर्जन्म हुआ। आजादी केवल राजनीतिक मूल्य के रूप में स्वीकृत नहीं हुई थी, बल्कि विचारों की एक नवक्रांति का सपना भी उससे जुड़ा हुआ है।''

इस प्रकार स्वतन्त्र भारत में कहानीकारों की जो नई पीढी तैयार हुई उसने हिन्दी कहानी के वस्तु, शिल्प और संचेतना में व्यापक परिवर्तन किए। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद हिन्दी कहानी क्षेत्र में जो उल्लेखनीय विकास हुए, वे हिन्दी कहानी के विभिन्न आन्दोलनों की देन हैं। स्वतन्त्रता–प्राप्ति के बाद हिन्दी कहानी में कई आन्दोलनों का सूत्रपात हुआ। 'नयी कहानी', 'सचेतन कहानी', 'अकहानी', 'सहज कहानी', 'सक्रिय कहानी', 'समानान्तर कहानी' और 'जनवादी कहानी' के नाम से समय–समय पर उठने वाले कहानी–आन्दोलनों ने हिन्दी कहानी को नई समृद्धि, दृष्टि और कलात्मक ऊँचाई भी दी है और संकीर्णताओं और स्वार्थों के कारण उसे क्षति भी पहुँचाई है।

(ग) आन्दोलन

नयी कहानी आन्दोलन

स्वतन्त्रता से पूर्व हिन्दी कहानी में कोई कहानी–आन्दोलन नहीं चला था। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद 'नयी कहानी' के रूप में एक ऐसा कहानी आन्दोलन प्रकाश में आया जिसने कहानी के पारम्परिक प्रतिमानों को नकार दिया और अपने मूल्यांकन के लिए नई कसौटियाँ निर्धारित की। यह स्वाभाविक भी था कि अब नये विचार, नये सपने और नयी राहों का उदय हुआ था। परतन्त्रता की पीड़ा से उभरी भारतीय जनता आजादी के उल्लास में एक नये जोश व नये उत्साह से सराबोर थी। अब नये प्रकार की चुनौतियाँ थी। आजाद हिन्दुस्तान को प्रगति के मार्ग पर अग्रसर करना व सदियों से गुलाम भारतीयों को हीन भावना से उबारकर एक नये आत्मविश्वास से ओत–प्रोत करना। परन्तु इन सपनों और आकांक्षाओं की उम्र बहुत कम थी, भारत–पाक विभाजन के फलस्वरूप हिन्दु–मुस्लिम साम्प्रदायिक उन्माद ने आजादी की मिठास को कसैला बना दिया था। मानवता को सरेआम नंगा किया गया, इंसानियत का गला दबा दिया गया और मूल्यों व आदर्शों को मौत के घाट उतार दिया गया था।

साम्प्रदायिकता का जो वहशीपन उन दिनों इन नवस्वतन्त्र विभाजित देशों के मध्य सुलग रहा था उसने स्वतन्त्रता के बाद की सारी उम्मीदों को धुआँ–धुआँ कर दिया। ऐसे समय में साहित्यकार जो स्वयं आजादी की बाट जोह रहा था, गहरे तनाव व अवसाद से भर गया। डॉ. विष्णु ओझा लिखते हैं– ''इसे अस्वीकार करना असम्भव–सा है कि आज की कहानी की भूमिका में दो महायुद्ध एवं भारत विभाजनजन्य विभीषिका, विषमता तथा संत्रास है। एक सार्वत्रिक टूटन, निरुद्देश्यता, असंगति, मानवीय सम्बन्धों की व्यर्थता, स्त्री–पुरुष–सम्बन्धों की विद्रूपता आदि भी उसकी उपज है।''

इस आन्दोलन के मुख्य कहानीकार राजेन्द्र यादव, मोहन राकेश और कमलेश्वर थे। नयी कहानी आन्दोलन का मुख्य आग्रह 'परिवेश की विश्वसनीयता', 'अनुभूति की प्रामाणिकता' और 'अभिव्यक्ति की ईमानदारी' के प्रति था। यह आन्दोलन कहानी को युग–सत्य से जोड़कर पाठक को समकालीन यथार्थ से यथार्थ रूप में परिचित कराने का ध्येय लेकर बढ़ा था। समय, काल और परिस्थितियां साहित्य को प्रभावित भी करती हैं और परिवर्तित भी। अब समय बदल चुका था। समयगत परिवर्तन पर टिप्पणी करते हुए डॉ. कुमार कृष्ण लिखते हैं– ''कहानियाँ नहीं बदली थी, समय की माँग बदली थी और समय की माँग ने ही अपनी थाती में से नये चुनाव किए थे। कथा–साहित्य में इस बदलते हुए आग्रह को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता और यह बदलता हुआ आग्रह ही वह बिन्दु है जहाँ से हिन्दी कहानी एक 'नया मोड़' लेती है, यह नया मोड़ ही 'नयी कहानी' के नाम से अभिहित किया गया।''

स्पष्ट है कि स्वतन्त्रता मिल जाने पर भारतीय जनमानस में एक नयी चेतना, नये विश्वास और नयी आशा–आकांक्षा का जन्म हुआ था जिसकी अभिव्यक्ति 'नयी कहानी' आन्दोलन की कहानियों में मिलती है। 'कहानी' तथा 'कल्पना' जैसी पत्रिकाओं ने नयी कहानी आन्दोलन को विस्तार देने का कार्य किया। 'चीफ की दावत' (भीष्म साहनी), 'जिन्दगी और जोंक' (अमरकान्त), 'राजा निरबंसिया', 'कस्बे का आदमी', 'आत्मा की आवाज' (कमलेश्वर), 'मलबे का मालिक', 'सौदा', 'नये बादल', 'आर्द्रा', 'परमात्मा का कुत्ता' (मोहन राकेश), 'एक कमजोर लड़की की कहानी', 'जहाँ लक्ष्मी कैद है' (राजेन्द्र यादव), 'दादी माँ' (शिवप्रसाद सिंह), 'गदल' (रांघेय राघव), 'बादलों के घेरे', 'डार से बिछुडी' (कृष्णा सोबती), 'साबुन', 'हंसा जाई अकेला' (मार्कण्डेय), 'रसप्रिया' (फणीश्वर नाथ रेणु), 'गुल की बन्नो' (धर्मवीर भारती), 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा), 'मैं हार गई' (मन्नू भण्डारी), 'वापसी' (उषा प्रियंवदा), 'छुट्टियाँ' (रामकुमार), 'बदबू' (शेखर जोशी), आदि कहानियों में कथ्य, शिल्प तथा अभिव्यक्ति सभी दृष्टियों से नयेपन का अनुभव होता है।

नयी कहानी आन्दोलन ने हिन्दी कहानी में एक नवीन चेतना को जन्म दिया। यह नयी कहानी की लोकप्रियता तथा रचनात्मकता का ही परिणाम है कि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय, श्रीकान्त वर्मा जैसे कवि कहानी लेखन की ओर आकर्षित हुए। नयी कहानी ने कथ्यगत परम्परागत ढाँचों को अस्वीकारते हुए नये आयामों की खोज की, वहीं अभिव्यक्ति के स्तर पर नये–नये प्रयोग किए। नयी कहानी ने कहानी के प्लॉट में रेखाचित्र, डायरी, संस्मरण जैसी अनेक विधाओं को समेटा जिससे नयी कहानी में प्रयोगधर्मिता, सांकेतिकता आदि गुणों का उदय हुआ। नयी कहानी की भाषा अकृत्रिम है। यह कोशगत अर्थों से कहीं अधिक व्यापक व गहरे अर्थों को ध्वनित करती है। आंचलिक शब्दों के प्रयोग के साथ–साथ प्रतीकात्मकता, बिम्बात्मकता आदि नयी भाषा के अतिरिक्त गुण हैं। परन्तु 60 के दशक तक आते–आते यह आन्दोलन अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों में धँस गया। यह आन्दोलन वैचारिक प्रतिबद्धता पर कायम रहने में असफल रहा और पश्चिम के आकर्षण से स्वयं को बचा पाने में नाकाम रहते हुए बुजुर्आ आधुनिकतावाद की वकालत करने लगा। व्यक्तिवादी प्रवृत्तियाँ अधिक सक्रिय हो गई और उसका व्यापक फलक सिमटकर स्त्री–पुरुष सम्बन्धों की अभिव्यक्ति रह गया। इस प्रकार यह आन्दोलन बिखर गया और हिन्दी कहानी में एक नये आन्दोलन अकहानी आन्दोलन का जन्म हुआ।

अकहानी आन्दोलन

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय जनमानस द्वारा देखे गए तमाम सपने व उनकी आकांक्षाएँ दम तोड़ चुकी थी। सन् 1962 में एक तरफ तो 'हिन्दी–चीनी, भाई–भाई' के नारे लगाए जा रहे थे तो दूसरी ओर भारत पर विश्वासघाती चीनी आक्रमण ने भारतीय जनता में मोहभंग की स्थिति को अत्यन्त भयावह बना दिया। अब तक भारत–पाक विभाजन के घाव व आन्तरिक कलह के जख्म भरे नहीं थे कि चीनी आक्रमण ने भारतीय जनता के मनो–मस्तिष्क को झकझोर दिया। इस प्रकार अकहानी एक तरफ जहाँ तात्कालीन सामाजिक, राजनीतिक व आर्थिक विसंगतियों का परिणाम था तो दूसरी ओर नयी कहानी

की जड़ता को तोड़ने का प्रयास था। ऐसे समय में हिन्दी कहानी जगत में एक नवीन कहानी आन्दोलन 'अकहानी आन्दोलन' का जन्म हुआ। यह आन्दोलन तात्कालीन मूल्यों तथा कथाशिल्प दोनों के अस्वीकार का आन्दोलन है। यह आन्दोलन पेरिस के 'एण्टी स्टोरी' का अनुकरण है और इस आन्दोलन पर अस्तित्ववादी चिन्तक सार्त्र और कामू के विचारदर्शन का प्रभाव है।

अकहानी में सम्बन्धों व मूल्यों के बिखराव को अभिव्यक्ति मिली है। अकहानी में सम्बन्धों के टूटने का ऐसा पीड़ाबोध है जो उसे पूर्ववर्ती कहानी से अलग करता है। स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के परिवर्तित रूप को अभिव्यक्त करने के कौशल को डॉ. अशोक भाटिया इस आन्दोलन की उपलब्धि भी मानते हैं और सीमा भी। वे कहते हैं– ''इस आन्दोलन की उपलब्धि यह रही कि काम–सम्बन्धों का इन्होंने वर्जनाहीन तथा सहज वर्णन करके हिन्दी कहानी में एक उपेक्षित पक्ष को समृद्ध किया। किन्तु उन्मुक्त काम–सम्बन्धों के नाम पर इन्होंने सभी मर्यादाओं और श्लीलता की सीमाओं को तोड़ दिया। समलैंगिक सम्बन्ध, अप्राकृतिक मैथुन आदि का विस्तृत वर्णन इसका प्रमाण है।''

भारतीय जीवन मूल्यों व परम्पराओं का तिरस्कार अकहानी में मिलता है। अकहानी भारतीय पारिवारिक व सामाजिक व्यवस्था को भी अस्वीकार करती है। इस सन्दर्भ में श्री जयेन्द्र त्रिवेदी लिखते हैं–''सभी प्रकार के मूल्यों को अस्वीकार करना अकहानी का प्रमुख उद्देश्य था। अकहानी का 'अ' मात्र उपसर्ग न रहकर एक जीवन मूल्य माना गया जिसका हेतु पारिवारिक, सामाजिक, नैतिक और साहित्यिक मूल्यों का विघटन करना था।''

अकहानी में संवेदनाओं और भावुकता के लिए कोई स्थान नहीं है। ''अकहानी स्त्री के सतीत्व में विश्वास नहीं करती तथा विवाह संस्था की पतिव्रता के समक्ष भी प्रश्नचिह्न लगाती है। दाम्पत्य जीवन में सतीत्व, पतिव्रता धर्म तथा एकपत्नीत्व जैसे मूल्य यहाँ आकर बिखर गये हैं। प्रेम का परम्परागत अर्थ यहाँ शून्य हो गया है और स्त्री–पुरुष के बीच केवल शारीरिक सम्बन्ध मात्र रह गये हैं।''11 अकहानी शिल्प व भाषा के स्तर पर भी सभी प्रकार के परम्परागत उपकरणों का निषेध करती है। शिल्प की दृष्टि से अकहानी फैंटेसी, डायरी, निबन्ध, संस्मरण आदि विधाओं के निकट है।

'झाड़ी', 'शवयात्रा', (श्रीकांत वर्मा), 'सिर्फ एक दिन', 'अकहानी', 'बड़े शहर का आदमी', 'एक डरी हुई औरत' (रवीन्द्र कालिया), 'तरतीब', 'छुटकारा' (ममता कालिया), 'पिता', 'फेंस के इधर–उधर' (ज्ञानरंजन), 'वे दोनों' (विजयमोहन सिंह), 'रक्तपात', 'आइसबर्ग', 'कबन्ध' (दूधनाथ सिंह), 'आदमी' (प्रयाग शुक्ल), 'एक पति के नोट्स', 'फुंसिया' (महेन्द्र भल्ला), 'मरी हुई चीज', 'निर्मम', 'बगैर तराशे हुए' (सुधा अरोड़ा), 'सुबह का डर', 'लोग बिस्तरों पर' (काशीनाथ सिंह), 'पिता–दर–पिता' (रमेश वक्षी), 'शीर्षकहीन' (गंगाप्रसाद विमल) जैसी कहानियों में अकहानी आन्दोलन की प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। अकहानी ने परम्परागत कथ्य व शिल्प को छोड़कर नये–नये प्रयोगों से हिन्दी कहानी के विकास को गति दी है। परन्तु इस आन्दोलन का अनास्थावादी दृष्टिकोण व पाश्चात्य विचारकों (कामू, काफ्का, सार्त्र) के विचारों को आधार बनाकर सोची गई स्थितियों–परिस्थितियों पर आधारित कृत्रिम कथा–विधान सबसे बड़ी सीमा है। अकहानी भारतीय समाज की उपज नहीं थी। इस प्रकार इस आन्दोलन की सामाजिक स्वीकार्यता अधिक नहीं थी और यह अपने ही दायरों में सिमट कर रह गया।

सचेतन कहानी आन्दोलन

सन् 1964 में डॉ. महीप सिंह ने 'आधार' पत्रिका का 'सचेतन कहानी विशेषांक' निकाल कर हिन्दी कहानी में एक नये आन्दोलन का सूत्रपात किया जिसे 'सचेतन कहानी' आन्दोलन का नाम दिया गया। इस आन्दोलन की मुख्य विशेषता यह है कि इसने सचेत रूप से जीवन में सक्रियता, आशा, आस्था और संघर्ष का भाव संचारित करने पर बल दिया। नयी कहानी आन्दोलन की प्रतिक्रिया में शुरू किया गया यह कहानी आन्दोलन अनास्था, कुण्ठा, अवसाद व निराशा के वातावरण से निकलने की छटपटाहट और कुछ नयी आशाओं और उम्मीदों के साथ जीवन को अनुभूत करने पर बल देता है। डॉ. हेतु भारद्वाज इस सन्दर्भ में कहते हैं कि ''सचेतन कहानी उस स्वस्थ दृष्टि से सम्पन्न कहानी है जो जीवन से नहीं, जीवन की ओर भागती है। इसमें नैराश्य, अनास्था और बौद्धिक तटस्थता का प्रत्याख्यान किया जाता है और मृत्यु–भय, व्यर्थता एवं आत्मपराभूत चेतना का परिहार भी। सचेतन कहानी में

आत्म–सजगता है और संघर्षेच्छा भी। वह व्यक्ति और समाज की टूटती आस्थाओं के बीच नये मूल्यों के निर्माण का स्वर मुखरित करती है।''

सचेतन कहानी में भी स्त्री–पुरुष सम्बन्धों का चित्रण पर्याप्त मात्रा में हुआ; परन्तु इधर के कहानीकारां का दृष्टिकोण अकहानी वाला दृष्टिकोण नहीं था। यह कहानी न तो सेक्स की अन्धी गलियों में भटकती है और न ही भय या कुण्ठा से ग्रस्त है। सचेतन कहानी के नारी पात्र अपनी अस्मिता के लिए संघर्षशील हैं। सचेतन कहानी आन्दोलन मुख्यतः वैचारिक आन्दोलन था, शिल्प के सन्दर्भ में किसी विशेष प्रकार का आग्रह–दुराग्रह इसमें नहीं है। सचेतन कहानी नयी कहानी और अकहानी के समान शिल्प के बोझ तले न दबकर सहज अनुभवों को सहजता से अभिव्यक्त करने पर बल देती है। सचेतन कहानीकारों का मानना है कि सफल कहानी वही है जिसका कथ्य पाठकों तक सहजता से संप्रेषित हो जाए। परन्तु यह आन्दोलन कथ्य और शिल्प दोनों ही स्तरों पर कहानी को कोई नवीनता दे पाने में असमर्थ रहा और महीप सिंह व उनके कुछ साथी कहानीकारों के मध्य ही सीमित रह गया। इस प्रकार यह आन्दोलन खत्म हो गया।

सचेतन कहानी आन्दोलन को गति देने वाले कहानीकारों में महीप सिंह के अतिरिक्त मनहर चौहान, कुलदीप बग्गा, नरेन्द्र कोहली, वेदराही, श्रवण कुमार, योगेश गुप्त, हेतु भारद्वाज, रामदरश मिश्र, जगदीश चतुर्वेदी, धर्मेन्द्र गुप्त, सुरेन्द्र अरोड़ा व हृदयेश आदि प्रमुख हैं। महीप सिंह की 'उजाले का उल्लू', 'स्वराघात', तथा 'धुंधले कोहरे', जगदीश चतुर्वेदी की 'अधखिले गुलाब', मनहर चौहान की 'बीस सुबहों के बाद', सुरेन्द्र अरोड़ा की 'बर्फ', रामकुमार भ्रमर की 'लौ पर रखी हुई हथेली', वेदराही की 'दरार' तथा सुखवीर की 'दीवारें और उड़ने वाला घोड़ा' जैसी कहानियाँ 'सचेतन कहानी' का स्वरूप स्पष्ट करती हैं।

सहज कहानी आन्दोलन

सन् 1968 में 'नयी कहानियाँ' पत्रिका का स्वामीत्व श्री अमृतराय ने खरीद लिया तथा उन्होंने अपने सम्पादन में इसे इलाहाबाद से निकालना शुरू किया। इस पत्रिका के सम्पादकीय 'सहज कहानी' शीर्षक के अन्तर्गत छपते थे। इन सम्पादकीयों के शीर्षक तथा अमृतराय के कहानी सम्बन्धी विचारों से ही सहज कहानी आन्दोलन का प्रारम्भ माना जाता है। आडम्बरों से मुक्त, बनावट से परे तथा ओढी हुई वैचारिकता से आजाद कहानी ही सहज कहानी है। सहज कहानी के विषय में अमृतराय द्वारा लिखे सम्पादकीयों में सहज कहानी के लिए आवश्यक जिन गुणों का उल्लेख मिलता है उनमें अमृतराय कहानी में कथारस की अनिवार्यता पर बले देते हैं, सहज कथानक सहज शिल्प में अभिव्यक्त होना चाहिए और कहानी में सरसता, भावुकता व संवेदना का गुण होना चाहिए। अमृतराय स्पष्ट शब्दों में कहते हैं–''नयी कहानी की खोज में सहज कहानी खो गयी।''14 वे कहानी में कहानीपन को जरूरी मानते हैं और नयी कहानी और अकहानी ने कथ्य और शिल्प के स्तर पर जो अतिरिक्त उत्तेजना व जल्दबाजी दिखाई उसका वे विरोध करते हैं। सहज कहानी आन्दोलन अमृतराय तथा उनके द्वारा 'नयी कहानियाँ' में लिखी गई टिप्पणियों तक ही सीमित रहा। उन्होंने सहज कहानी का शास्त्र तो प्रस्तुत किया पर उनके विचार केवल वैचारिक स्तर पर ही रह गये, अपनी कल्पना व अपने दृष्टिकोण को धरातल देने में वे असमर्थ रहे। अतः 'नयी कहानियाँ' पत्रिका के बन्द होने के साथ–साथ इस आन्दोलन का भी समापन हो गया। स्वयं अमृतराय के अलावा सुधा अरोड़ा ने भी इस आन्दोलन का समर्थन किया।

समानान्तर कहानी आन्दोलन

अक्टूबर, 1974 के 'सारिका' के अंक से कमलेश्वर द्वारा समानान्तर कहानी विशेषांकां की शृंखला के प्रकाशन से यह कहानी आन्दोलन अस्तित्व में आया। समानान्तर कहानी का केन्द्रीय बिन्दु 'आम आदमी' है। इस आन्दोलन के प्रस्तोता कमलेश्वर का मानना है कि आम आदमी की जिन्दगी के विविध पहलुओं को, चाहे वे किसी भी रूप में हों, हम अपनी कहानियों में निरूपित करते हैं और उसके साथ ही जिन्दगी को इस कदर सड़ा देने वाली पूँजीवादी और साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ निरन्तर जूझते रहना कर्त्तव्य मानते हैं। इस प्रकार इस कहानी आन्दोलन में आम आदमी के संघर्ष की अभिव्यक्ति है और हर स्थिति में वही नायक भी है। पूरी कहानी का ताना–बाना उसी के इर्द–गिर्द बुना जाता है

तथा वह अपनी पूरी चेतना व ऊर्जा के साथ युगीन विसंगतियों के विरुद्ध डटकर मुकाबला करने को उद्यत दिखाई देता है। डॉ. हेतु भारद्वाज के शब्दों में– ''समानान्तर कहानी जीवन के स्पन्दन के साथ चलने वाली रचनात्मक विधा है और वह अपनी पूरी रचनात्मक शक्ति के साथ आम आदमी के नायकत्व को स्थापित कर भ्रष्ट राजनीतिक और चतुर पूँजीवादी व्यवस्था से संघर्ष कर सामने आ गयी है।''

समानान्तर कहानी सामन्तवादी मूल्यों को अस्वीकार करते हुए नये मूल्यों की स्थापना का बीड़ा उठाती है। वह अपने केन्द्रीय पात्र 'आम आदमी' को इतना सशक्त व सक्षम बना देना चाहती है कि वह दैत्याकार व्यवस्था से न केवल संघर्ष करने का साहस जुटा पाये अपितु निरंकुश व्यवस्था को अपने तीखे प्रहारों से छिन्न–भिन्न भी कर पाये। ''समानान्तर कहानी तटस्थता और निरपेक्षता को पीछे छोड़ संबद्धता की बात करती है, वह मूल्यों को व्यवहार में लाये जाने के प्रति सजग है। उन्हें कार्यान्वित भी करना चाहती है। इस दृष्टि से आज का समय इतना भयावह है, क्योंकि सामान्य व्यक्ति इतना असहाय है कि वह भ्रष्ट नैतिकता का खुलकर विरोध नहीं कर सकता। जब तक सामान्य जन में अनैतिक को अस्वीकार करने की शक्ति नहीं आती तब तक नये मूल्य स्थापित नहीं हो सकते। इस दिशा में समानान्तर कहानी सक्रिय है।''

इस प्रकार इस आन्दोलन में वैचारिक या कथ्य के स्तर पर कोई अतिरिक्त विशेषता प्रतीत नहीं होती और कमलेश्वर द्वारा 'सारिका' का सम्पादन छोड़ने के साथ ही यह कहानी आन्दोलन समाप्तप्राय हो गया। 'मानसरोवर के हंस', 'इतने अच्छे दिन', 'रातें' (कमलेश्वर), 'एक चालू आदमी' (दिनेश पालीवाल), 'आदमी' (आशीष सिन्हा), 'हरिजन सेवक', 'लहू पुकारे आदमी' (मधुकर सिंह), 'तमाशा' (स्वदेश दीपक), 'अंधे कुएँ का रास्ता' (अरुण मिश्र), 'चौथा आश्चर्य', (जवाहर सिंह), 'यन्त्र पुरुष' (सुरेश सेठ), 'सुरंग में पहली सुबह' (बसंत कुमार) आदि कहानियाँ समानान्तर कहानी आन्दोलन की प्रतिनिधि कहानियाँ हैं।

सक्रिय कहानी आन्दोलन

पाश्चात्य शब्द 'एक्टिव स्टोरी' के अनुकरण पर राकेश वत्स द्वारा सम्पादित 'मंच' पत्रिका के मार्च 1978 अंक को 'सक्रिय कहानी विशेषांक' के रूप में निकाला गया। इस विशेषांक के प्रकाशन से ही सक्रिय कहानी आन्दोलन का जन्म माना जाता है। सक्रिय कहानी का सर्वाधिक बल सक्रियता पर है। यह सक्रियता पात्रों तथा विचारों दोनों स्तरों पर है। इस आन्दोलन की कहानियाँ अपने पात्रों को शोषक–शक्तियों के विरुद्ध खड़ा होने का न केवल हौंसला देती हैं अपितु उनके संघर्ष में सहयोग भी करती हैं। राकेश वत्स ने 'सक्रिय कहानी की भूमिका' में सक्रिय कहानी की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखा है– ''सक्रिय कहानी का सीधा और स्पष्ट मतलब है– 'चेतनात्मक ऊर्जा और जीवन्तता की कहानी, जो आदमी को बेबसी, निहत्थेपन और नपुंसकता से निजात दिलाकर स्वयं अपने अन्दर की कमजोरियों के खिलाफ खड़ा होने के लिए तैयार करने की जिम्मेवारी अपने सिर लेती है।''

सक्रिय कहानी आन्दोलन व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों का विरोध करते हुए सामूहिक मानवीय मूल्यां की स्थापना पर बल देता है। यहाँ स्वहित को परहित से जोड़कर देखने की प्रवृत्ति है अर्थात् यह कहानी व्यक्तिगत स्वार्थों और लाभों को समाजगत लाभों में बदलने की नीयत रखती है। सक्रिय कहानी शोषित व पीडित वर्ग को संगठित कर शोषक वर्ग के प्रति संघर्ष पर बल देती है। जनसमर्थक मूल्यों तथा समानता की स्थापना इस कहानी आन्दोलन का मुख्य ध्येय है। 'उसका फैसला' (सुरेन्द्र सुकुमार), 'जंगली जुगराफिया' (रमेश बत्तरा), 'पहली जीत' (विकेश निझावन), 'आखिरी मोड़' (कुमार संभव), 'काले पेड़' (राकेश वत्स), 'एक न एक दिन' (नवेन्दु), 'लोग हाशिये पर' (धीरेन्द्र आस्थाना) आदि कहानियों में सक्रिय कहानी आन्दोलन की प्रवृत्तियों को देखा जा सकता है। सक्रिय कहानी आन्दोलन कहानी की कलात्मकता पर कोई बात नहीं करता, वह मात्र कथ्य पर जोर देकर चुप हो जाता है। सक्रिय कहानी आन्दोलन अपना कोई व्यक्तिगत आधार बना पाने में असमर्थ रहा क्योंकि इसकी प्रवृत्तियाँ समानान्तर व जनवादी कहानी आन्दोलन का मिश्रण–सा प्रतीत होती हैं।

जनवादी कहानी आन्दोलन

सन् 1982 में दिल्ली में 'जनवादी लेखक संघ' की स्थापना के साथ ही हिन्दी कहानी में जनवादी कहानी आन्दोलन का सूत्रपात माना जाता है। 13–14 फरवरी, 1982 को दिल्ली में जनवादी

लेखक संघ का प्रथम राष्ट्रीय अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन के पश्चात् जनवादी कहानी पर 'कलम' (कलकत्ता), 'कथन' (दिल्ली), 'उत्तरगाथा' (मथुरा–दिल्ली), 'उत्तरार्ध' (मथुरा), 'कंक' (रतलाम) जैसी पत्रिकाओं में व्यापक रूप से चर्चा प्रारंभ हो गई। जनवादी कहानी आन्दोलन की वैचारिकता मार्क्सवादी विचारधारा पर आधारित है। इस कहानी आन्दोलन में सामाजिक विसंगतियों के प्रति तीव्र आक्रोश है। श्रमजीवी वर्ग के प्रति सहानुभूति, शोषक व पूँजीपति वर्ग के प्रति गुस्सा व परम्परागत मूल्यों के प्रति अनास्था का भाव इस आन्दोलन की मुख्य प्रवृत्तियों में है।

जनवादी कहानी खोखले आदर्शों में विश्वास नहीं रखती, वह जीवन के यथार्थ चित्रांकन पर बल देती है। सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया से सही तौर पर जुड़ने व शोषण, अन्याय तथा उत्पीड़न के खिलाफ खड़ा होने के प्रति प्रतिबद्ध यह कहानी समस्याओं को जमीनी स्तर पर उठाकर उनके समाधान के लिए प्रयत्नशील है। मजदूर और किसान जनवादी कहानियों के केन्द्रीय पात्र हैं। ''जनवादी कहानी किसान–मजदूर के संघर्ष की कहानी है तथा वह इस संघर्ष को बहुत सूक्ष्मता के साथ उभारती है। जनवादी कहानी जीवन के यथार्थ के सन्दर्भ में सत्य की पराजय दिखाकर भी सत्य की ओर आकर्षित करने का कार्य करती है।''

इस कहानी का शिल्प पक्ष की अपेक्षा वैचारिक पक्ष पर अधिक बल है। जनवादी कहानी सीधी–सादी व लोकजीवन से जुड़ी भाषा तथा सामान्य भाषा के मुहावरों का प्रयोग करती है। उसका मानना है कि कथ्य का अपना शिल्प होता है। चारों ओर जो जीवन बिखरा हुआ है, वही कहानी का मसाला है। पात्रों की कमी नहीं है। शिल्प के लिए परेशान होने की जरूरत नहीं है। कथ्य का अपना शिल्प होता है, उसी को रखते जाओ। किसी प्रकार का चमत्कार दिखाना कहानी का कार्य नहीं है। परन्तु जनवादी कहानी की विषय–वस्तु एक सीमित दायरे तक सिमट कर रह गई, जीवन के व्यापक अनुभवों के चित्रण का इसमें अभाव है। दूसरा स्वयं को जनवादी कहलाने के उत्साह में कुछ कहानीकार सोची–समझी स्थितियों पर कहानियाँ लिखने लगे जिससे इस आन्दोलन को क्षति पहुँची।

जनवादी कहानी आन्दोलन को गति देने वाले कथाकारों में 'सुधीर घोषाल', (काशीनाथ सिंह), 'आस्मां कैसे–कैसे', 'सूरज कब निकलेगा', (स्वयंप्रकाश), 'सुबह–सुबह', 'अब यही होगा', (हेतु भारद्वाज), 'दिल्ली पहुँचना है', 'मछलियां' (असगर वजाहत), 'मौसा जी', 'टेपचू' (उदय प्रकाश), 'राजा का चौक', 'काले अंधेरे की मौत' (नमिता सिंह), 'कसाईबाड़ा', (शिवमूर्ति), 'बीच के लोग', (मार्कण्डेय), 'अपराध', (संजीव), 'देवीसिंह कौन', 'कल्प वृक्ष' (रमेश उपाध्याय) आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

उपर्युक्त आन्दोलनों के अध्ययन के पश्चात निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि थोड़े हेर–फेर के साथ सभी कहानी आन्दोलन, कहानी के विकास की ही कामना करते हैं। इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के प्रथम वर्ष में जन्मीं हिन्दी कहानी इक्कीसवीं सदी में अपने सशक्त, समृद्ध व प्रौढ़ रूप में प्रवेश करती है।

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी

बीसवीं सदी के प्रथम वर्ष में जन्मीं हिन्दी कहानी एक पूरी सदी जिसमें भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम, सदियों के संघर्ष के पश्चात् भारत की खंडित आजादी, भारत–पाक विभाजन की त्रासदी, आजादी के बाद भारतीय जनमानस की आशाओं और आकांक्षाओं का दमन व पाकिस्तान तथा चीन के आक्रमणों की विभीषिका, पाश्चात्यीकरण के फलस्वरूप भारतीय पारिवारिक व सामाजिक ढांचे के विध्वंश आदि अनेक प्रकार के अनुभवों को स्वयं में समेटे इक्कीसवीं सदी के प्रगतिशील वातावरण में प्रवेश करती है।

यद्यपि इक्कीसवीं सदी की परिस्थितियाँ भी बीसवीं सदी की परिस्थितियों से ज्यादा अलग नहीं है। फिर भी सूचना, संचार व विज्ञान–तकनीक के विकास ने विचार और व्यवहार के स्तर पर अनेक परिवर्तन किए हैं। इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी अत्याधुनिक तकनीकों से लैस कहानी है। कथ्य और शिल्प दोनों में ही आधुनिक शैलियों व विचारों का प्रभाव इस कहानी पर दिखाई देता है। इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी में कई प्रकार की वैचारिकताएं एक साथ चलती हैं जिनमें अन्तर्विरोधों के होते हुए अन्तर्सम्बन्ध भी हैं। बीसवीं सदी के अन्त से कुछ समय पूर्व हिन्दी कहानी जिन विषयों को लेकर गंभीर थी, उनका सघन व विस्तृत स्वरूप इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानियों में मिलता है।

बीसवीं शताब्दी में जो समस्याएँ अपने भ्रूण रूप में भारतीय सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक परिवेश को विचलित किए हुए थी, उन्होंने इक्कीसवीं सदी में आधुनिक उपकरणों की मदद से अपनी ताकत में इजाफा कर अनेक नई चुनौतियों को जन्म दिया। इक्कीसवीं सदी के कहानीकार को भी उसी अनुपात में 'अपडेट' होने की आवश्यकता थी और इन विसंगतियों की सघनता व स्वरूप को ध्यान में रखते हुए अपने वैचारिक व शिल्पगत हथियारों को तैयार करना था।

इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी में जो विमर्श मुख्यतः उभर आये हैं और जिन्होंने कहानी को हथियार के रूप में इस्तेमाल किया है। उनमें स्त्री–विमर्श, दलित–विमर्श तथा आदिवासी–विमर्श मुख्य हैं। दलित रचनाकार स्वानुभूति और सहानुभूति में अन्तर करते हैं। वे सवर्ण लेखकों की दलित संदर्भों से जुड़ी कहानियों को दलित लेखन में शामिल नहीं मानते। यहाँ तक की वे प्रेमचन्द, निराला और नागार्जुन के साहित्य को भी दलित–विमर्श के अन्दर नहीं मानते। उनका मानना है कि उनके पास दलित पीड़ा की स्वानुभूति नहीं है क्योंकि वे नहीं जानते कि दलित का दर्द क्या होता है। दलित–विमर्श पर इक्कीसवीं सदी में अनेक दलित रचनाकार अनुभूति की प्रामाणिकता के साथ कहानी लेखन कर रहे हैं जो न केवल अपनी पीड़ा का ही मार्मिक चित्रण करते हैं अपितु अपने समाज की कमजोरियों को रेखांकित कर उनसे उभरने के लिए भी प्रयत्नशील दिखते हैं। दलित रचनाकारों में ओमप्रकाश वाल्मीकि, मोहनदास नैमिशराय, श्यौराज सिंह बेचैन, सूरजपाल चौहान, विपिन बिहारी, राजेन्द्र बड़गूजर आदि के साथ–साथ सुशीला टाकभौरे व रजत रानी 'मीनू' आदि महिला कहानीकार सक्रिय हैं। दलित विमर्श को 'हंस' (राजेन्द्र यादव), 'युद्धरत आम आदमी' (रमणिका गुप्ता), 'अपेक्षा' (तेज सिंह), 'दलित साहित्य' (जयप्रकाश कर्दम) तथा 'बयान' (मोहनदास नैमिशराय) आदि पत्रिकाएँ गति दे रही हैं।

यदि इक्कीसवीं सदी की कहानी के परिदृश्य की पृष्ठभूमि पर विचार करें तो बढ़ता हुआ आतंकवाद, भूमंडलीकरण और बाजारवाद का आक्रमण, उपभोक्ता संस्कृति का प्रसार, पाश्चात्य जीवन मूल्यों का आकर्षण, राजनीतिक दलों का भ्रष्टाचार, राजनीति का अपराधीकरण, सांप्रदायिक दंगे, धार्मिक कट्टरता, मीडिया और जनसंचार माध्यमों का दुरुपयोग, दलित और नारियों पर अत्याचार, जातिवाद का आतंक, आर्थिक असन्तुलन से उपजा आक्रोश, शिक्षित बेरोजगारी तथा बुनियादी जरूरतों की अनुपलब्धता आदि ऐसी स्थितियाँ हैं जो इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी की जमीन तैयार करती है। और यह निसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि इक्कीसवीं सदी की कहानी इन स्थितियों पर पूरे बल से प्रहार करने में सक्षम हैं।

वर्तमान युगीन परिवेश

इक्कीसवीं सदी का भारतीय समाज एक ऐसे युग में जी रहा है जहाँ वह एक तरफ अपने परम्परागत मूल्यों तथा आदर्शों को बनाए रखना चाहता है वहीं दूसरी तरफ पश्चिम की चकाचौंध उसे आकर्षित कर रही है। सांस्कृतिक संक्रमण के इस दौर में भूमण्डलीकरण और बाजारवाद ने हमारे जीवन–मूल्यों तथा जीवनादर्शों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। नैतिकता की परिभाषाओं में स्खलन तथा निरन्तर हो रहे परिवर्तन के कारण भारतीय जनमानस परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्द्वन्द्व में फँसा है।

इक्कीसवीं सदी के समाज में यह अन्तर्द्वन्द्व नई समस्याओं को जन्म दे रहा है। देखने में सुखद तथा आकर्षक लगने वाली आधुनिक सभ्यता वस्तुतः संवेदना तथा भावना के धरातल पर हमारे मनों में शून्यता भर रही है और हम तनाव, अवसाद तथा बेचैनी अनुभव कर रहे हैं। इन्हीं स्थितियों–परिस्थितियों से इक्कीसवीं सदी का युगीन परिवेश निर्मित हुआ है। सामाजिक स्तर पर अनेक दावों–वादों के बावजूद आज भी भाईचारे तथा समन्वय की भावना का अभाव है और समाज में व्यक्ति और परिवार बिखराव की स्थिति का सामना कर रहे हैं और समाज में जाति, धर्म तथा संप्रदाय के आधार पर भेदभाव जारी है। राजनीतिक आदर्शों तथा मूल्यों का पतन अपने चरम पर है और सभी राजनितिक दल जनाकांक्षाओं पर खरे उतरने में असमर्थ रहे हैं। आर्थिक स्तर पर विश्व की शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाओं में शामिल भारत का एक तबका सुविधासंपन्न है और दूसरा तबका बुनियादी जरूरतों के लिए जूझते हुए तिल–तिलकर जी रहा है। धार्मिक तथा सांस्कृतिक स्तर पर विसंगतियाँ तथा विद्रूपताएँ अपने घिनौने रूप में सामने आई हैं। आस्था और श्रद्धा के केन्द्रबिन्दु धर्म में पाखंडियों तथा आपराधिक छवि के लोगों का वर्चस्व बढ़ा है जिसके चलते एक आम आदमी का धर्म से विश्वास उठता जा रहा है।

इक्कीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों में भारतीय अर्थव्यवस्था में संतोषजनक परिवर्तन हुए। भारतीय कंपनियों के वैश्विक हस्तक्षेप तथा विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के भारत में आने से विश्व–व्यापार में भारत की नियमित सक्रिय भागेदारी से भारत की अर्थव्यवस्था विश्व पटल पर अपनी पहचान बनाने लगी। आज भारत विश्व के दूसरे सबसे तेजी से उभरते बाजार के रूप में सामने आया है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों के आगमन को भारत की अर्थव्यवस्था के लिए एक बहुत बड़े संकट के रूप में देखा जा रहा था परन्तु आज स्थिति दूसरी है। भारत की अनेक कम्पनियाँ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों में तब्दील होकर विश्व बाजार में अपनी धाक जमा रही हैं। आज भारत विश्व की ताकतभर अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। सामाजिक कल्याण योजनाओं पर सरकार का खर्च रिकार्ड स्तर पर है। देश की प्रतिव्यक्ति आय तीन सौ डॉलर के स्तर से उछल कर सत्रह सौ डॉलर के स्तर को पार कर गई है और राष्ट्रीय बचत दर बाईस फीसदी से बढ़ कर छत्तीस फीसदी हो गई है। चीन के निर्यात आधारित विकास मॉडल के विपरीत भारत ने सूचना प्रौद्योगिकी, दवा और ऑटोमोबाइल क्षेत्र का विकास करके कौशल आधारित विकास मॉडल विकसित किया है।

आज धर्मगुरु अहिंसा, संयम और त्याग की अपेक्षा हिंसा और भोग में विश्वास रखते हैं। इक्कीसवीं सदी के प्रथम दशक के अन्त तक इन धर्मगुरुओं का सच हमारे सामने आता है और हम स्वयं को एक विचित्र स्थिति में पाते हैं। इन सन्तों की वास्तविकता यह है कि इनके भक्त तो दाने–दाने को मोहताज हैं और ये स्वयं दूध–मलाई में डूबे विलासितापूर्ण जीवन जी रहे हैं। भारत जैसे ऋषि–मुनियों के देश में जहाँ सन्त–महात्मा पर्णकुटियों तथा कन्दराओं में लोक–कल्याण की साधना में लीन रहते थे। आज हमारे समाज में उपस्थित ये तथाकथित सन्त–महात्मा आलीशान गाड़ियों में सुरक्षाकर्मियों के रक्षाकवच में घूमते हैं। वातानुकूलित भव्य भवनों में निवास करने वाले इन संत–महात्माओं के जीवन से सत्य, सादगी, सद्‌गुण, ब्रह्मचार्य तथा अनुशासन कोसों दूर है। इन संन्यासियों के जीवन में गृहस्थाश्रम के सभी सुख मौजूद हैं।

इक्कीसवीं सदी का युगीन परिदृश्य सांस्कृतिक स्तर पर संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। इस युग में भारतीय धर्मभीरु समाज परम्परागत रूढ़ियों तथा मान्यताओं को छोड़ना नहीं चाहता और दूसरी तरफ वह आधुनिक चकाचौंध से भरी पाश्चात्य जीवन–शैली के सम्मोहन से ग्रस्त होते हुए भी उसे पूरी तरह अपनाने से कतराता है। परम्परा और आधुनिकता के अन्तर्द्वन्द्व में फँसा वर्तमान समाज भारतीय जीवन मूल्यों तथा आदर्शों को त्यागकर पश्चिम की भौंड़ी तथा भोग–विलासपूर्ण संस्कृति को अपना रहा है। जिसके चलते हमारी सभ्यता और संस्कृति चरमरा रही है और हमारे रीति–रिवाजों तथा परम्पराओं का ह्रास हो रहा है। आज भारतीय त्यौहारों के प्रति आकर्षण घट रहा है और विदेशी वैलेन्टाइन्स–डे आदि उत्सवों की ओर युवाओं का आकर्षण बढ़ रहा है। हम सांस्कृतिक, वैचारिक तथा नैतिक स्तर पर व्यापक पतन की ओर बढ़ रहे हैं। हमने भौतिक समृद्धि को ही जीवन का असली आनन्द मान लिया है और आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता को पीछे धकेल दिया है। हम ज्यों–ज्यों भूमण्डलीकरण के प्रभाव में आकर इण्टरनेट, मोबाइल व अन्य आधुनिक संचार माध्यमों के जरिये एक दूसरे से, एक से दूसरे देश–राज्य व जिले से जुड़ रहे हैं त्यों–त्यों अपने ही परिजनों, अपने ही अड़ोसियों–पड़ोसियों और गाँव जनपदों से भावनात्मक रूप से कट रहे हैं। उनके प्रति हमारे सरोकार सिमटते जा रहे हैं। अपनी संस्कृति, कला, पर्व–उत्सव, गीत–संगीत सभी से हमारा नाता खत्म होता जा रहा है। यह इस युग की एक बड़ी विड़म्बना है कि वैश्वीकरण के अन्तर्गत जिस 'ग्लोबल विलेज' की हम बात कर रहे हैं वहीं हमें अपने ही गाँव की सभ्यता और संस्कृति विस्मृत हो चुकी है। इस प्रकार इक्कीसवीं सदी का सांस्कृतिक परिदृश्य अन्तर्द्वन्द्वग्रस्त है जहाँ मानवीय मूल्यों की अपेक्षा व्यक्तिगत लाभ और सुख–सुविधा को महत्त्व दिया जा रहा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हिन्दी कहानी का इतिहास प्राचीन भारतीय साहित्य और वाङमय से आरम्भ होता है। हिन्दी कहानी में अपने प्रारम्भिक दौर से ही युगीन विसंगतियों तथा विद्रूपताओं पर प्रहार करने तथा समाज को सही दिशा में अग्रसर करने का प्रयास परिलक्षित होता है। प्रेमचन्द के आगमन के बाद हिन्दी कहानी भारतीय ग्रामीण और शहरी जीवन को एकसाथ रेखांकित करती है।

जीवन और जगत के अनेक पहलुओं की अभिव्यक्ति इस दौर की हिन्दी कहानी में यथार्थ रूप में प्रकट होती है। स्वतन्त्रतापूर्व हिन्दी कहानी का अध्ययन–विश्लेषण इस तथ्य की पुष्टि करता है। हिन्दी साहित्य की एक सशक्त गद्य विधा के रूप में स्थापित हो चुकी हिन्दी कहानी स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय जीवन और समाज से गहरा रिश्ता रखती है। इस दौर की हिन्दी कहानी तात्कालीन भारतीय सामाजिक– राजनीतिक–आर्थिक तथा सांस्कृतिक स्थितियों–परिस्थितियों को विभिन्न कहानी आन्दोलनों के माध्यम से मुखरित करती है। सैद्धान्तिक तथा वैचारिक स्तर पर उथल–पुथल के इस समय में अनेक कहानी आन्दोलन भिन्न–भिन्न विचारधाराओं के साथ सामने आते हैं। इन कहानी आन्दोलनों की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि इनकी मत–भिन्नता ने हिन्दी कहानी के बहुमुखी विकास में अविस्मरणीय भूमिका का निर्वहन किया। कथ्य, शिल्प, भाषा, संवेदना और चेतना के स्तर पर अनेकानेक प्रयोगों ने हिन्दी कहानी को हिन्दी साहित्य की विशिष्ट विधा के रूप में पहचान दिलाई। साहित्य की प्रवृत्तियाँ युगानुरूप परिवर्तित होती रहती हैं क्योंकि साहित्य और समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इसी कारण से साहित्य की दृष्टि और सरोकारों में समय–समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। हिन्दी कहानी में विभिन्न आन्दोलनों का उदय तथा पतन इस तथ्य को प्रमाणित करता है। समयगत परिवर्तनों के बावजूद साहित्य की संवेदनात्मक और भावात्मक भूमिका सभी युगों में समान बनी रहती है। हिन्दी कहानी भी इससे अछूती नहीं है। यह कहानी भी अपने युग तथा समय से गहरा जुड़ाव रखती है। इक्कीसवीं सदी की हिन्दी कहानी की दृष्टि और सरोकारों में भारी परिवर्तन देखने में आते हैं। परन्तु वर्तमान कहानीकार संवेदनशील होकर मानव मन और उसके संवेदन की रचनाएं भी लिखता है और अत्यंत जटिल और बौद्धिक विमर्शों पर भी विचार–मंथन करता है। इस सदी की कहानियों में कहानीकार राजनीतिक–आर्थिक और सांस्कृतिक मुद्दों पर भी हस्तक्षेप करता है। इस सदी में ऐसी अनेक कहानियाँ प्रकाश में आती हैं जो बिलकुल अनछुए पक्षों को परिप्रेक्ष्य में लाती हैं।

निष्कर्षतः वर्तमान सदी की हिन्दी कहानी किसी वाद और विचारधारा में न फंसकर विभिन्न विमर्शों में स्वयं को अभिव्यक्त कर रही है। इस कहानी के सरोकार विस्तृत हैं और हमारे समय के सभी ज्वलन्त मुद्दों पर वह निष्पक्ष और तटस्थ दृष्टि से अपना पक्ष रखती है।

'असाध्य वीणा': नास्तिकता से आस्तिकता की यात्रा

डॉ0 भारतेंदु कुमार पाठक
सहायक प्रोफेसर
स्नातकोत्तर, हिंदी विभाग
कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर–190006
जम्मू व कश्मीर

यह सत्य है कि व्यक्ति का विकास उसकी अवस्था अनुसार होता है। श्री अज्ञेय अवस्था की ढलाव पर आध्यात्मिक हो गए थे। वे संन्यासियों के लपेटे में लिपटते जा रहे थे। वे भारतीय दर्शन, अध्यात्म से पूर्णतः प्रभावित हो गए थे। यह कविता इसी सत्संग एवं आस्तिकता की उपज हैं।

अज्ञेय अपने प्रसर बुद्धिवाद व विस्तृत ज्ञान के लिए जाने जाते हैं। वे तर्क की कसौटी पर कसते है, पुनः कुछ कहते हैं। वे प्राचीन काव्य से आधुनिक काव्य पर लेख/निबंध भी लिखते हैं। कवि केशव से कोलरिज, इलियट पर्यन्त उनके विचार उपलब्ध है। अधिकांश जनमानस उन्हें नास्तिक व बौद्धिक मानता आया है।

स्वभावतः व्यक्ति पर अवस्था की छाया देखी जाती है। वे इन्हीं कारणों से 'असाध्य–वीणा' की रचना करते हैं। 'असाध्य–वीणा' भारतीय सौन्दर्य–बोध की अप्रतिम रचना है, साथ ही ललित कलाओं की काव्यात्मक प्रस्तुति भी है। विशेषकर संगीत व काव्य कला की गंगा–यमुनी धारा के साथ बिम्बों की चित्रात्मक व मूर्ताविधान की सरस्वती भी अविरल प्रवाहित है। सूक्ष्म अलंकारों का विधान शिल्पगत वास्तु कला को उपस्थित करता है। कभी मध्ययुगीन कवियों ने 'नाद' संगीत–विद्या के द्वारा शब्द–ब्रह्म के साक्षात्कार हेतु प्रयास किया था। नंददास कहते हैं–

"कोई गोपी बैठी गाय।
नाद के मग है पिय को पाय।।"

तो प्रियंवद भी गाने हेतु कहता है–

"गा तू !
तेरी लय पर मेरी साँसें
भरे, पुरें, रीते, विश्रान्ति पायें।
गा तू !
यह वीणा रखी है : तेरा अंग–अपंग
रस–विद
तू गा :
मेरे अँधियारे अन्तस में अलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का
तू गा, तू गा, तू गा, तू गा"[1]

यही श्रुति, स्मृति, उपनिषद्, दर्शन, अध्यात्म आस्तिकता, अज्ञेय के लिए असाध्य थी, जो संन्यासियों का संग व अवस्था की ढलाव ने साध्य बनाया।

साधक की वेश भूषा भारतीय पांरपरिक है–

"केश कम्बली ! गुफ़ा–गह !"[2]

साधना स्थल भी हिमालयी है–

"यह वीणा उत्तराखंड के गिरी–प्रांतर से
घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी"[3]

जीवन का चरम लक्ष्य है– **'ब्रह्मानुभव'**

कहा गया है–

"भरोसा है अब मुझ को
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी।"[4]

सृष्टि के प्रत्येक कण प्रभु से सिक्त है। सर्वत्र प्रभु के दर्शन हो। मैं नहीं प्रत्युत तुम ही तुम हो की भावना भक्त को भगवान पर्यंत पहुँचा देती है। यही तो कवि कहता है–

मैं नहीं, नहीं ! मैं कहीं नहीं !
ओ रे तरु ! ओ वन
ओ स्वर–संभार !
नाद–मय संसृति
ओ रस–पलावन ——
आ मुझे भुला,
तू उतर वीन के तारों में
अपने से गा
अपने को गा ——
तू गा, तू गा ——
तू सन्निधिं पा–तू खो
तू आ दृतू हो दृ तू गा ! तू गा ।"[5]
आरंभ में भी– 'आ गये प्रियवंद'
गायक वृन्द आलाप के 'आ' द्वारा आरंभ करते हैं–
साधक की साधना पूरी होती है–
"सहसा वीणा झनझना उठी"–

कहने का भाव है कि–

यह कविता कवि अज्ञेय की उस अवस्था की रचना है, जब वे साधु सेवी व आध्यात्मिक हो गए थे।

संदर्भ :

1. आँगन के पार द्वार– असाध्य वीणा– अज्ञेय, पृष्ठ–75, आठवाँ संस्करण–1990 ई०, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली
2. उपर्युक्त, पृष्ठ–71
3. उपर्युक्त, पृष्ठ–71
4. उपर्युक्त, पृष्ठ–71
5. उपर्युक्त, पृष्ठ–78
6. उपर्युक्त, पृष्ठ–79

सतत् विकास के अन्तर्गत पर्यावरण नीतिशास्त्र की उपादेयता

डॉ0 विनीत कुमार मिश्र
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (बी0एड0)

पूरे विश्व की जनसंख्या में अपार वृद्धि हुई है। सन् 1600 में विश्व की अनुमानित कुल जनसंख्या 1971 करोड़ थी जो 1670 में बढ़कर 302.7 करोड़ तथा 2000 में 616.6 करोड़ तक पहुँच गयी। जनसंख्या की तीव्र वृद्धि से गम्भीर पर्यावरण संकट उत्पन्न हो रहा है। विश्व की बढ़ती जनसंख्या के लिए सुख–सुविधाओं को जुटाने हेतु अप्रत्यक्ष रूप से प्रकृति पर ही दबाव पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप हरे जंगलों का काटना तथा सीमेंटेड जंगलों का बढ़ना जारी है। आबादी का एक बहुत बड़ा वर्ग गाँवों से नगरों की ओर पलायित हो रहा है तथा अपनी सुविधाओं को बढ़ाने हेतु प्रकृति का शोषण कर रहा है। दूसरा पक्ष शिक्षा का अभाव, जिसके परिणाम स्वरूप लोगों में अपने चारों तरफ फैले हरियाली के प्रति जागरूकता का अभाव तथा अपने प्रकृति के प्रति अनभिज्ञता हैं। अनभिज्ञता के कारण वे प्रकृति से छेड़–छाड़ करते जा रहे हैं जो पर्यावरण की विकराल समस्या को आमंत्रित कर रहे हैं।

'पर्यावरण' आज एक ऐसा बहुश्रुत शब्द है, जिसमें सारे विश्व की चिन्ता समाहित है क्योंकि पर्यावरण की समृद्धि ही संसार की समृद्धि है। अतः शोषण और विषमता जितनी कम होगी पर्यावरण उतना ही समृद्ध होगा। अपनी भावी पीढ़ी को जीवन की सम्पन्नता तभी सौंपी जा सकती है जब वर्तमान पीढ़ी पर्यावरण संरक्षण के लिए पूर्ण जागरूक व कटिबद्ध हो। अतः आज पर्यावरण संरक्षण के प्रति भावी पीढ़ी की जीवन यात्रा कुंठित, त्रस्त व रुग्ण न हो, उन्हें पर्यावरणीय शिक्षा का ज्ञान देकर अन्तर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय, राज्य, क्षेत्रीय पारिवारिक व व्यक्तिगत समस्या को सुलझाने के लिए प्रेरित करना है।

आज का मानव इतना स्वार्थी बन चुका है कि बस उसे किसी भी काम में लाभ होना चाहिए, अब चाहे उससे समाज, देश पर्यावरण का कितना ही नुकसान क्यों न हो उसकी उसे कोई चिन्ता नहीं है। वास्तव में यदि पर्यावरण को बचाना है तो हमें सर्वप्रथम स्वार्थवृत्ति को त्यागना होगा। अतः वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण शिक्षा को प्रभावी बनाने के लिए प्रतिमान परिवर्तन की शिक्षा को प्रभावी बनाने के लिए प्रतिमान परिवर्तन की आवश्यकता है। यदि नीतिशास्त्र के माध्यम से पर्यावरण की शिक्षा दी जायेगी तो निश्चय ही व्यकित में सोचं समझकर कार्य करने की क्षमता का विकास होगा और स्वतः ही पर्यावरण शुद्वि का महत्व समझ कर वह पर्यावरण को नुकसान पहुँचाने वाला कार्य नहीं करेगा।

यद्यपि सतत् विकास के लिए शिक्षा का सम्प्रत्यय पर्यावरण शिक्षा की अवधारणा से सर्वथ भिन्न है जहाँ जागरूकता एवं अवबोध से परिवर्तन संलग्नता, सहभागिता एवं समस्या समाधान की तरफ होता है, सतत् विकास की अवधारणा पर्यावरण शिक्षा से अधिक व्यापक दृष्टिकोण लिए हुए है। अतः सतत् विकास के अधोलिखित उद्देश्य प्रस्तावित किये जा सकते हैंः–

- **पारिस्थितिकीय उद्देश्यः–** के अन्तर्गत इको तंत्र एकरूपता, जैव विविधता, क्षमता निर्वहन एवं वैश्विक मुद्दे सम्मिलित हैं।
- **सामाजिक सांस्कृतिक उद्देश्यः–** के अन्तर्गत सशक्तिकरण, 'सहभागिता, सामाजिक गतिशीलता, सामाजिक समरस्ता, 'सांस्कृतिक पहचान एवं संस्थागत विकास आते हैं।
- **आर्थिक उद्देश्य :–** के अन्तर्गत आर्थिक समृद्धि, आर्थिक समानता एवं आर्थिक कुशलता समाहित है।

पर्यावरण शब्द दो शब्दों परि–आवरण से मिलकर बना है। हमारे चारों ओर जो कुछ भी जैविक और अजैविक रूप में विद्यमान हैं उसे पर्यावरण कहते हैं। मानव का पर्यावरण दो प्रकार का होता है– प्राकृतिक एवं सामाजिक पर्यावरण प्राकृतिक पर्यावरण कुदरती होता है जबकि सामाजिक पर्यावरण मानव निर्मित होता है। दोनों प्रकार के पर्यावरण आवश्यक है एवं दोनों अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। जहाँ एक तरफ

हमारा प्राकृतिक पर्यावरण हमारे रहन–सहन के ढंग से, कार्यशैली से प्रभावित होता है, वहीं दूसरी तरफ सामाजिक पर्यावरण भी प्राकृतिक पर्यावरण पर निर्भर करता है। पर्यावरण शिक्षा एक तरफ जहाँ मनुष्य को अपना भौतिक, समुचित उपयोग एवं शोषण दोहन करने की शिक्षा देती है वहां दूसरी तरफ पर्यावरण की सुरक्षा एवं संरक्षण का भी संदेश देती है। आज पर्यावरण विध्वंस के परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण नीति शास्त्र विश्व पटल पर उभर रहा है।

पर्यावरण नीतिशास्त्र पर्यावरण के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों का विज्ञान है। यह विज्ञान आदर्श मानवीय चरित्र को रेखांकित करता है, जिसकी परिणति आदर्श मानवीय कामों के रूप में होती है। भारत के ऋषियों ने ''अहिंसा परमो धर्मः'' की सूक्ति के रूप में नीति के मार्ग की एक दिशा दी थी। आज जब जंगली जीवन का विनाश हो रहा है, मनुष्य मनुष्य के खून का प्यासा है, प्रकृति का अंधाधुंध शोषण किया जा रहा है, तो आज भीतिशास्त्र और उसकी अवधारणाओं की जरूरत सबसे अधिक है। पशु वध पाप है, हरे पेड़ को काटना पाप है, किसी भी जीव को सताना पाप है पाप और पुण्य की सीमा रेखाओं को समझे बिना हम पर्यावरण के सत्य को नहीं समझ सकते। इसे समझना है तो पर्यावरण नीतिशास्त्र का अध्ययन आवश्यक है। नीतिशास्त्र के अध्ययन द्वारा व्यक्ति किसी भी कार्य को करने से पहले उसके दूरगामी परिणामों के बारे में सोचता है और इस प्रकार पर्यावरण संरक्षण के महत्व को समझते हुए वह पर्यावरण को प्रदूषित होने से बचा सकता है अतः पर्यावरण नीतिशास्त्र वैश्विक पर्यावरण के प्रति सार्वभौमिक नैतिक कर्त्तव्यों एवं मूल्यों का विज्ञान है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पर्यावरण नीति शास्त्र का उद्देश्यः–

- छात्रों के अन्दर पर्यावरण के प्रति चेतना उत्पन्न करना।
- छात्रों में पर्यावरण के प्रति सकारात्मक अभिवृत्ति विकसि करना ।
- छात्रों में पर्यावरण को समझने हेतु सकारात्मक वातावरण सृजित करना।
- छात्रों में पर्यावरण प्रदूषण की भयावहता के प्रति नैतिक मूल्य विकसित करना।
- छात्रों में पर्यावरण संरक्षण के लिए ज्ञान एवं कौशल विकसित करना।
- छात्रों को पर्यावरण के बारे में अवधारणात्मक एवं वैचारिक ज्ञान के लिए अभिप्रेरित करना।
- व्यक्तियों के जीवन की गुणवत्ता को उच्च स्तर पर बनाये रखना।

सतत् विकास में पर्यावरण नीति शास्त्र की भी उपदेयता है। पर्यावरण मे परिवर्तन न केवल मन व मस्तिष्क बल्कि हमारी जीवन शैली एवं कार्यक्षमता को भी प्रभावित करता है। जनसंख्या वृद्वि एवं वैश्विकरण से जहाँ तक तरफ पर्यावरण प्रदूषित हो रहा है, वहां उपभोक्तावादी संस्कृति से नित नई समस्या उत्पन्न हो रही है जैसे कि प्रदूषण, प्राकृतिक संसाधनों को ह्रास, जल का घटता स्तर, ओजोन क्षय, वातावरण का बढ़ता तापक्रम, हानिकारक गैसों का निरन्तर बढ़ता प्रभाव एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्यायें इत्यादि। अगर पर्यावरण के खतरे इसी तरह से बढ़ते रहे तो एक दिन पृथ्वी पर जीवन का अस्तित्व ही खतरें मे पड़ जायेगा। ऐसे में पर्यावरण संरक्षण के उपायों पर विचार करने एवं व्यक्तिगत स्वार्थों से ऊपर उठकर पर्यावरण के प्रति जनचेतना लाने की नितान्त आवश्यकता है। तभी एक स्वस्थ, एवं सभ्य समाज का निर्माण सम्भव है।

आज हमारे सामने प्रदूषण से भी भयानक समस्या पश्चिम की भौतिकवादी सभ्यता के फलस्वरूप होने वाले दुष्परिणामों की है जिन्हे अपना कर हमारे भारतीय मूल्यों, परम्पराओं एवं संस्कृति के मूलभूत आयामों पर चोट पहुँचायी है। देश में जाति, धर्म, क्षेत्र, आर्थिक व सामाजिक असमानता से विभिन्न प्रकार के अपराधों से पर्यावरण असन्तुलित हो रहा है। आज हमें अपनी प्राचीन संस्कृति एवं सामाजिक मूल्यों की ओर लौटना होगा जिससे हमारा सामाजिक पर्यावरण शुद्व रह सकेगा। इसके लिए हर व्यक्ति को स्वार्थ से से ऊपर त्याग की भावना अपनाकर आत्म नियंत्रण करते हुए सामाजिकता की भावना को महत्व देना चाहिए जिससे हमारा भौगोलिक एवं सामाजिक पर्यावरण संतुलित रह सके।

पर्यावरण प्रदूषण एक सार्वभौमिक समस्या है। इसका जनसंख्या वृद्वि से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। परिणामस्वरूप वैश्विक स्तर पर अनियंत्रित गरीबी, बेरोजगारी, अशिक्षा एवं पर्यावरण प्रदूषण की समस्याऐं उत्पन्न हो रही है। उपभोक्तावादी एवं पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव के कारण मनुष्य अपने भौतिक खुख साधनों के लिए प्रकृति का अनियंत्रित शोषण कर रहा है। जिसमें सम्पूर्ण पारिस्थितिकी पर नकारात्मक

प्रभाव पड़ रहा है। इस प्रकार पर्यावरण प्रदूषण के कारण मानव जीवन की गुणवत्ता प्रभावित हो रही है। जिसका प्रमुख आधार भी मनोवैज्ञानिक वैचारिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक है। अर्थात् यदि एक नये प्रकार के प्रदूषण, वैचारिक प्रदूषण जो सम्पूर्ण प्रदूषण की जड़ है पर नियंत्रण कर लिया जाय तो मानव जीवन की गुणवत्ता को बनाये रखा जा सकता है। इस दिशा में पर्यावरण नीति शिक्षा ''इनवारमेन्टल इथिक्स एजुकेशन'' के बारे में चिन्तन किया जा सकता है। पर्यावरण प्रदूषण के प्रति अपने कर्तत्य एवं उत्तरदायित्व का बोध सिर्फ पर्यावरण अध्ययन से संम्भव नहीं है क्योंकि मनुष्य के अन्दर इस प्रकार का दृष्किोण विकसित किया जाय कि उसके मन एवं मस्तिष्क में पर्यावरण के प्रति वैचारिक स्तर पर भी प्रदूषण का विचार न आये। इस दिशा में पर्यावरण नीति शिक्षा प्रासंगिक सिद्व हो सकती है। अन्यथा पोषणीय विकास (सस्टनेबुल डेवलपमेंट) एक सिद्वान्त एवं कल्पना की वस्तु बनकर रहा जायेगा, जिससे बहुत5 समय तक पृथ्वी पर मानव जीवन एवं मानवजीवन की गुणवत्ता को बनाये रखना सम्भव नहीं होगा।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

- ❖ लामा महेन्द्र पी0 (1995) : इनवारमेन्टल कन्सर्न इन साउथ एशिया, **मेनस्ट्रीम,** 4 नवम्बर।
- ❖ लेस्टर, बी (1981): बिल्डिंग ए सस्टनेबुल सोसायटी', न्यूयार्क,: नार्टन एण्ड कम्पनी।
- ❖ शर्मा ज्योति (1965) : दि इन्सपेक्टर ऑफ एस0पी0एम0 हाट्स इनवारमेन्टठ', **फाइनेंसियल एक्सप्रेस,** 10 सितम्बर।
- ❖ सिंह देवेन्द्र (2004) : पर्यावरण, पर्यावरण शिक्षा एवं संचार माध्यम **मुक्त शिक्षा,** राष्ट्रीय मुक्त विद्यालयी संस्थान, नई दिल्ली, जून।
- ❖ सचदेवा, एन0 कुमार (2005) : बदलते परिवेश में पर्यावरण शिक्षा की आवश्यकता, **परिप्रेक्ष्य न्यूपा**, नई दिल्ली वर्ष 12, अंग 3 दिसम्बर।
- ❖ व्यास, हरिश्चन्द्र (1996) : विभिन्न विषयों के माध्यम से प्र्यावरण शिक्षा, परिप्रेक्ष्य, न्यूपा, नई दिल्ली वर्ष 3, अंक 1, अप्रैल।

अज्ञेय की कहानियों में स्त्री परक दृष्टिकोण

डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल
सह–आचार्य, हिन्दी विभाग
श्री रतनलाल काँवरलाल पाटनी
राजकीय पी0जी0 महाविद्यालय, किशनगढ़
अजमेर, राजस्थान–305801

हिन्दी कथा साहित्य में द्विवेदी युग से कहानी विधा की शुरूआत होती है और उन दिनों कहानी के युग प्रवर्तक प्रेमचंद और प्रसाद थे। प्रेमचंद घर परिवार, गाँव समाज की प्रत्येक स्थितियों और परिस्थितियों का चित्रण अपनी कहानी में करते है। जबकि प्रसाद इतिहास, पुराण से पात्रों को उठाकर लोगों के समक्ष वर्तमान से अतीत के आदर्श की ओर ले जाने का प्रयत्न करते है। अज्ञेय का उदय मनोवैज्ञानिक कथा क्षेत्र को लेकर होता है। इन्होंने नारी अस्मिता को बन्धनों से मुक्त करने, विद्रोह करने तथा स्त्री–पुरुष के समानता के लिए संघर्ष करने का नाम दिया। अज्ञेय की कहानियों में स्त्री संवेदना को दो रूपों में प्रस्तुत की गयी है। एक तो क्रांतिकारी स्त्री है जो अपने आन–बान–शान के लिए क्रांतिकारी जीवन जीने पर विवश है दूसरी प्रेम संवेदना से परिपूर्ण कहानियाँ है। इसमें अमरवल्लरी, मनसों, सिगनेलर, हरसिंगार, रेल की सीटी, सेव और देव, सांप, ताज की छाया में, आदम की डायरी, सूक्ति और भाष्य, गैंग्रीन, कविप्रिया, अछूते फूल आदि। क्रांतिकारी पक्ष की कहानियों में स्त्री जीवन के केन्द्र में 'हारिति' है। वह मछुओं के बीच पली हुई एक ऐसी अविवाहित युवती है, जिसे आजीवन कुमारियों के जीवन से मिलने वाला आनन्द मिल सका। वह सदा पुरुष वेश में रहकर कैंटन सेना (चीनी सेना) में जासूस का काम करती है। उसने अदम्य साहस का परिचय भी दिया। ''गोलियां अभी चल रही थी। एक गोली क्वानयिन के कन्धे में लगी, एक पैर में। उसने अब शत्रु की चिंता छोड़ दी। उसकी आँखें हारिति को ढूँढ़ने लगी। पुल से कुछ दूर उसने देखा, एक केशहीन सिर। हारिति तैरती जा रही थी। घोड़े का कही पता नहीं था।''[1]

इन्होंने वैश्विक परिदृश्य में अपनी कहानियों को रखकर स्त्रियों को वहाँ बड़ी सिद्दत से स्थान देते हैं। 'विपथगा' कहानी में मेरिया इवानोबना एक क्रांतिकारी स्त्री है। यह रूस की पृष्ठभूमि पर आधृत कहानी है। कहानीकार अज्ञेय लिखते है– ''उसके शरीर में लावण्य की दमक थी, मुँह पर सौन्दर्य की आभा थी, होठों पर एक दबी हुई विचारशील मुस्कान थी। किन्तु उसकी आँखें! उनमें अनुराग, विराग, क्रोध विनय, प्रसन्नता, करुणा, व्यथा, कुछ भी नहीं था, थी केवल एक भीषणमय तुषारमय अथाह ज्वाला।''[2] इसके माध्यम से स्त्री के अन्दर की ज्वाला को भी अज्ञेय ने प्रस्तुत किया है– ''पहले पहल जब मैं क्रांतिदल में आई तो लोग मुझ पर संदेह करने लग गए। न जाने किस अज्ञात शत्रु ने उनसे कह दिया, उसका पिता पुलिस में है, पति राजनैतिक विभाग में, इससे विनाश के अतिरिक्त और क्या आशा हो सकती है ? मैंने देखा इतनी कामना, इतनी सदिच्छा होते हुए भी मैं अनादृता परित्यक्ता सी हूँ........ मेरे पति को भी मेरी वृत्तियों का पता लगा। फलस्वरूप एक दिन मैं चुपचाप घर से निकल गई उन्हें भी नौकरी छिन जाने का डर था। उसके बाद मेरी परीक्षा का प्रश्न उठा! पति को छोड़ देने पर भी मुझे सदस्य नहीं बनाया गया परीक्षा देने को कहा गया। कितनी भयंकर थी वह।''[3]

बीसवीं सदी के अन्त में स्त्री अस्मिता का मुद्दा अपने चरम पर दिखायी देता है। इसे हम अज्ञेय के कथा साहित्य में व्यापक रूप में देख सकते हैं। उनके यहाँ स्त्रियाँ एक क्रांतिकारी समूह में समूह के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलती है। उसे भी पिस्तौल चलाना है; पुलिस से अपने क्रांतिकारियों को छुड़ाना है। इस हेतु स्त्री पुरुष क्रांतिकारियों के साथ बैठी है। बिना भय के बिना किसी शील अथवा संकोच के, उत्साहपूर्ण ढंग से– ''हम रात वही बैठे रहे। नौ बजे के लगभग पुलिस के बूटों की आहट आई। हम सावधान हो गये। किसी ने पूछा कौन बैठा है ? हमने उत्तर नहीं दिया, गोलियां दागनी शुरू कर दी। दो मिनट के अन्दर निर्णय हो गया। हमारे तीन आदमी खेद रहे; पर हमें सफलता

प्राप्त हुई। बन्दी मुक्त हो गए।''[4] अज्ञेय के नारी पात्र पुरुषों के समान क्रांतिकारी कार्यों से भरपूर सहयोग किया। विभिन्न समस्याओं का सामना भी किया। पुरुषों की लोलुप दृष्टि से वह इस क्षेत्र में भी नहीं बच पाई। अपनी संवेदनाओं का दमन कर, सम्बन्धियों के मोह को त्यागकर प्रेम का उत्सर्ग कर वह देश प्रेम में मर मिटने वालों की भांति बलिदान हो जाती है। 'छाया' कहानी में 'सुषमा' अपील नहीं करती और अंत में वह फांसी के तख्ते पर हँसते–हँसते अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए झूल जाती है। ''हम जल्दी–जल्दी फांसी–घर की ओर चले। वहाँ पहुँचकर देखा, सब लोग एक कोने में खड़े है और सुषमा तख्ते पर खड़ी है। हम भी एक कोने में खड़े हो गए। सुषमा ने अरुण को देखा........ जल्लाद सुषमा के मुँह पर टोपी पहनाने लगा। वह बोली, यह क्या है ? मैं मुँह छिपाकर मरने नहीं आई हूँ।''[5]

'एक घण्टे' कहानी में रजनी अपने पति प्रभाकर के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलती है। रजनी को पैतृक संस्कार में अमीरी मिली थी जबकि प्रभाकर का चरित्र इसके विपरीत है। वह गरीबों के लिए रात–दिन जूझने वाला क्रांतिकारी दल का सदस्य है। रजनी भी धीरे–धीरे पति के पद चिह्नों पर चलना शुरू कर दी। वह भी क्रांतिकारियों में शामिल होती है। ''रजनी ये सब बातें एक ही तरंग में सोच गई। फिर किसी आंतरिक प्रेरणा से वह दूसरे कमरे में गई और बस्स खोलकर टटोलने लगी। उसने रिवाल्वर निकाला और चुपचाप भर लिया। बाकी गोलियाँ निकालकर आंचल में डाल ली।''[6]

'पगोडावृक्ष' कहानी में सुखदा लगातार आठ वर्ष से वैधव्य जीवन एक झोपड़ी में अकेले व्यतीत कर रही है। अचानक एक व्यक्ति पानी से लथपथ कुछ–कुछ गन्दा सा दरवाजा खटखटाता है। उस व्यक्ति को संकट से घिरा जानकर उसे शरण देती है। और भोजन भी कराती है। उस कोठरी में व्यक्ति की गठरी में एक कोट, एक गांधी टोपी तथा एक रिवाल्वर देखकर सुखदा उसे घर से निकाल देने का निश्चय मन में करती है, उसे निकालती तो है परन्तु उसके स्वयं के मन में इतना उथल–पुथल होने लगता है कि पुनः उसे शरण देती है। मैंने क्या डरकर आश्रय दिया ? मैंने उसे निकाल दिया था, फिर बुलाया।''[7] पुलिस सुखदा को ही गिरफ्तार कर ले जाती है। उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि– ''इस पीड़ा में, धड़कन में, एक विचित्र शांति थी; वह रात भर की कसक एक जलन और अशान्ति और उनसे उत्पन्न हुए भूतकाल के दृश्य, सब एक साथ ही बुझ गए, उसे मालूम हुआ, सैकड़ों वर्षों की थकान के बाद उसे शय्या पर लेट जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ हो......''[8] इस प्रकार सुखदा के हृदय में जो परिवर्तन हो रहा है उसे लेखक ने पगोड़ा वृक्ष के माध्यम से सांकेतिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। ''रात–रात में पगोड़ा वृक्ष ने पुरानी केंचुल उतार फेंकी थी– या नये वस्त्र धारण कर लिये थे। आज उसकी कालिमा का चिह्न भी कही नजर नहीं आता था, वह फूलों से भरा हुआ, सौन्दर्य से आवृत्त, सौरभ से झूम रहा था।''[9]

अज्ञेय की प्रेम संवेदना में स्त्रियों का चित्रण सूक्ष्म रूप में किया गया है। अज्ञेय मूलतः मनोवैज्ञानिक कथाकार है। उनके यहाँ के नारी पात्र नैतिकता के नवीन आयाम प्रस्तुत करती है। अस्तित्ववादी दर्शन का प्रभाव अज्ञेय पर सर्वाधिक पड़ा है यही कारण है कि उनके कथा साहित्य इसी दर्शन पर आधृत है। उनके नारी पात्र परजीवी नहीं है। वे सामाजिक संस्थाबद्धता के प्रति विद्रोह कर व्यक्ति–स्वातंत्र्य की उद्घोषणा करती है। उनके यहाँ प्रेम सम्बन्धों में यौन भावना को अनुचित ही माना गया है। ये नारियाँ पुरुषों की समकक्षता को प्राप्त करने का यत्न करती है। 'अमरवल्लरी' कहानी में अज्ञेय लिखते है– ''प्रेम आईने की तरह स्वच्छ रहता है, प्रत्येक व्यक्ति उसमें अपना ही प्रतिबिम्ब पाता है, और एक बार जब वह खंडित हो जाता है तब जुड़ता नहीं। अगर किसी प्रकार निरन्तर प्रयत्न से हम उसके भग्नावशिष्ट खंडों को जोड़कर रख भी लें तो उसमें पुरानी क्रान्ति नहीं आती। वह सदा के लिए कलंकित हो जाता है। स्नेह अनेकों चोटे सहता है, कुचला जाकर भी पुनः उठ खड़ा होता है; किन्तु प्रेम में अभिमान बहुत अधिक होता है। वह एक बार तिरस्कृत होकर सदा के लिए विमुख हो जाता है।''[10]

''मैं चाहता हूँ, किसी से प्रेम कर पाऊँ– इतना विशाल, इतना अचल इतना चिरस्थायी प्रेम कि संसार उससे भर जाएं।''[11] इस प्रकार अमरवल्लरी कहानी में अमर वल्लरी प्रतीक मानकर एक नारी के समर्पण, प्रेम, अनुराग को प्रस्तुत किया है। 'सिगनेलर' कहानी में सन्ध्या समवयस्क लड़के की तलाश पूरी करती है– ''एक अस्वस्थ्य पीला शरीर, अपनी श्यामता से सुनहले तारे उलझाए हुए बाल, शान्त चेहरा उस अँधेरे घर में घुसकर जब मैंने बत्ती जलाई तब यही देखा। चारपाई खाली थी, बलराज

खिड़की के पास जमीन पर लेटा हुआ था और उसके हाथ..... वह छोटी सी लड़की जिसने अभी तक यह नहीं जाना था कि प्रेम क्या होता है, कैसे बिना प्रयास के प्रेम, मृत्यु, अनन्तता का अर्थ मानो ज्ञान का एक ही घूँट पीकर जान गई और उससे विचिलत नहीं हुई.......''[12]

अज्ञेय की मानसिक संवेदना की कहानी मनसो है। 'मनसो' कहानी में भी प्रेम का यही रूप दृष्टव्य है। जिसमें स्वतंत्रता की लड़ाई लड़ने वाला एक सैनिक महेश कारागार से भागकर गूजरों के एक छोटे से गाँव में गुप्त नाम से अपनी जिंदगी व्यतीत करता हुआ दिखाया गया है। वह गूजरों की गाय भैस चराता है। उसी स्थान पर वह मनसो को प्रतिदिन पानी लेते आते–जाते देखता है। उसके हृदय में मनसो के प्रति कब प्यार का अंकुरण हो जाता है, उसे स्वयं भी पता नहीं चलता– ''उसने कहा, मनसो! उसकी आवाज में रस से बढ़कर कुछ एक अजीब कम्पन्न था, जो वयः सन्धि की भर्राई हुई ध्वनि के सम्मिश्रण से और अधिक आकर्षक हो गया था।''[13] महेश निरंतर मनसो को ढूँढता फिरता था, उसे यह भी पता नहीं चला कि 'मनसो' कौन है, 'मनसो' क्या करती है, किधर से आती है ? उसके हृदय में क्या चल रहा है। उसे तो बस यही पता रहता है कि वह आज नहीं दिखी; न दिखाई पड़ने पर वह व्याकुल हो जाता था और उसे निरन्तर तलाश करता फिरता था– ''वह यह जानने की जितनी ही कोशिश करता कि मनसो क्यों नहीं आई, उतनी ही उसकी उलझन बढ़ती जाती। एक ही कारण उसे उचित जान पड़ता था कि वह जान बूझकर नहीं आई, किन्तु इसी को स्वीकार करने के विरुद्ध उसकी समूची आत्मा विद्रोह कर उठती थी। यदि वह उसे बिल्कुल महत्व नहीं देती, उसकी इतनी उपेक्षा है; तब वह उसे इतना महत्व क्यों देने लगी कि केवल मात्र उसी के कारण, उसी को चिढ़ाने के लिए उस पथ पर से आना छोड़ दे ? यह तो केवल तब हो सकता है जब–जब कुछ नहीं......''[14]

अज्ञेय ने राष्ट्रीय आन्दोलन के परिवेश में स्वयं को आहूत करने के निमित्त से स्वयं सेना में भर्ती हुए। इस तरह से अज्ञेय की स्वतंत्रता को विभिन्न आयामों उसके कोणों और टैलैण्ट के साथ देखने का प्रयास किया है। उन्होंने नारी के बाह्य रूप को समझने के लिए उसका समाजशास्त्रीय अध्ययन किया है। उसके आन्तरिक मनोविज्ञान को समझने के लिए मनोविश्लेषणवाद का सहारा लिया है। उनकी नारी में अहं, विद्रोह, आत्मपीड़ा सहने का भाव, पर पीड़ा, सुख, उदात्तीकरण, आरोपण, भय, अवचेतन की ग्रंथियाँ अन्तर्द्वन्द्व आदि चित्तवृत्तियों को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस दृष्टि से वे पाश्चात्य मनोविज्ञानी फ्रायड, एडलर, जुंग के समीप पहुँच जाते है। उनके नारी पात्रों के जीवन नैतिक तथ्यों, आदर्शों नये व्यक्तिगत समस्याओं की प्रतिच्छाया पड़ी है। नारी पात्रों में एक विद्रोही व्यक्तित्व भी है। जो बदलते मनुष्य के मुखौटे को भी चित्रित करती है। उनके नारी पात्र मानवीय मूल्यों के प्रतिनिधि भी है। उसमें नव्य चेतना को ग्रहण करने की शक्ति है; आर्थिक स्वतंत्रता तथा संघर्ष करने की मानसिक तैयारी भी है। कही–कही अज्ञेय ने नारी चरित्रों के माध्यम से प्रेम के बैलौस, बे अंदाज (मनसो), (सिगनेलर) कहानी कही है। ''एक स्मृति बची है मैंने अनेको बार, अनेकों दिन प्यार किया है। वे सारे प्रेम एक–एक करके खो गए है, एक बढ़ती हुई प्रणय–भूख के दबाव के आगे। किन्तु, वह एक बार प्यार– वह क्या प्यार था ? अचल बना रहा है, एक विचित्र उग्र लालसामयी।''[15] नारी के सभी रूपों को अज्ञेय ने अपनी कहानियों में स्थान दिया है। उनकी कहानियों में कनकवल्ली और इंदु की बेटी जैसी पुत्रियाँ है तो मालती और लेखक की पत्नी जैसी जीवन संगिनी भी है। क्रिस्टाबेल जैसी प्रेमिकाएं है; तो लूनी और राशि जैसी बहने, जसुमति और पहाड़ी जैसी बालिकाएं है; तो प्रेमा जैसी आदर्श पवित्र नारी भी है। इसमें हारिति जैसी क्रांतिकारी युवतियां है, मेरिया, सुषमा क्रिस्टाबेल जैसी युवतियां जो राष्ट्र को सर्वोपरि मानती है वही हीलीबोन जैसी कुंठाग्रस्त स्त्री भी है। भोली–भाली युवतियाँ अमरवल्लरी और पीपल की पूजा में आस्था प्रस्तुत करने वाली महिलाएँ भी है।

अज्ञेय की कहानियों में देशी–विदेशी दोनों प्रकार के पात्र है जिसमें उच्चवर्ग व निम्न श्रेणी के पात्र भी है। मेरिया, हारिति, क्रिस्टाबेली, पॉलिनी, हीलीबोन जैसी विदेशी स्त्रियाँ है तो करुणा, सुरैया, सुषमा, मनसो, मालती, प्रेम जैसी भारतीय नारियाँ भी है। जिसमें जीवन के अनुभव–प्रसंग और संवेदनाएं व्याप्त है। अज्ञेय की कहानियों में स्त्री कही समाज के हाथ का खिलौना है तो कहीं पर अपनी पृथक् सत्ता बनाये रखने वाली स्त्रियाँ, परिवार के प्रति समर्पित रहने वाली स्त्रियाँ दोनों की सत्ता कथ्य में रखा गया है। अज्ञेय की लेखनी उपन्यासों से ज्यादा कहानियों में मँजकर प्रस्तुत हुई है। इसका प्रमाण मालती, मेरिया, इवानोव्ना, क्रिस्टोबेल, हारिति, हीलीबोन पात्रों के चरित्रों में देख सकते है।

एक सामान्य स्त्री में भी दया, माया, ममता, मधुरिमा अगाध विश्वास की भावना होती है। साथ ही स्त्रियों में जो त्याग, तपस्या की भावना होती है वह 'नम्बर दस' कहानी में देख सकते है। प्रेमा एक रोगिणी पत्नी है वह अपने पति की सेवा करना चाहती है परन्तु वह उससे हुई नहीं इसके लिए दुःखी है। पति को किसी से उधार न लेना पड़े, इस कारण वह सरकारी अस्पताल की दवाओं पर निर्भर रहना चाहती है भले ही आराम न हो। वह पति को परेशान नहीं देख सकती है। ''तुम भी क्यों फिक्र किये जाते हो ? ऐसे तो तुम भी बीमार हो जाओ। मेरी दवा क्या है ? सरकारी अस्पताल से ले आया करो– वहाँ तो मुफ्त मिल जाती है। पिछली बार वही से तो लाया था। पर फायदा नहीं होता। हो कैसे? डॉक्टर देखे मरीज को तब न दवा हो ? वह यहाँ आता नहीं, बुलाने को पैसे नहीं है। डॉक्टर को बुलाकर क्या होगा। अब तो मुझे मरना ही है। मेरे करम ही खोटे थे– तुम्हारी सेवा तो की नहीं, उलटे दुःख इतना दिया। यही था, तो पहले ही मर जाती।''[16]

अज्ञेय ने पंजाब, जालंधर, कश्मीर के पहाड़ी क्षेत्रों के जीवन को भी अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है। जिसमें स्त्रियों को प्रमुखता दी। उनकी कहानी 'पहाड़ी जीवन' में 'करुणा' और 'गिरीश' दो प्रधान पात्र है। करुणा गिरीश की बाल्य सखी और दूर के रिश्ते की बहन है। गिरीश इन दिनों पहाड़ गया हुआ है और याद आता है कि करुणा पहाड़ों पर आने के लिए तरशती है। उसकी कल्पना थी कि पहाड़ी जीवन कितना निर्मल और कितना स्वतः सिद्ध है। और गिरीश इन दिनों पहाड़ों पर है, पहाड़ी जीवन के वह अत्यन्त निकट है अब उसे मालूम हो गया है कि दूर के ढोल कितने सुहाने लगते है। करुणा जब गिरीश को पत्र लिखती है तो उस पत्र में उसका व्यक्तित्व स्पष्ट होता है वह अशांत है लोग उसे अशांत करते है क्योंकि उन्हें नहीं पता शांति क्या होती है, वह लिखती है– ''मैं आपको न लिखूँगी तो किसको लिखूँगी ? यहाँ के लोगों को जिन्हें इतना भी नहीं पता कि शान्ति क्या होती है ?

मैं तो पूरा लिख भी नहीं सकती, थोड़ा सा ही लिखती हूँ।

मुझे आपकी कहानी के शब्द जिस देश में पुरुष भी गुलाम हो, उसमें स्त्री होने से मर जाना अच्छा है।''[17]

अज्ञेय ने नारी के मानवीय रूप को जिस तरह से प्रस्तुत किया उसे हम उपर्युक्त कहानी में करुणा के माध्यम से देख सकते है। जहाँ करुणा एक पराधीन भारतीय संस्कारों वाली स्त्री है। गुलाम पुरुष जो अपनी गुलामी से खिन्न रहता है वह उसकी भी गुलाम है। यही उसकी यातना का पड़ाव भी है। ऐसी असंख्य स्त्रियाँ है जो स्वतंत्र भारत में परतंत्र होकर जी रही है। अज्ञेय की कहानियों में विविध चरित्रों वाली नारी पात्र है। हारिति, क्रिस्टोबेल, मरियाइवानोव्ना, मीरा, सुषमा या शारदा, अरुणा, सुखदा, लीना, बातरा, रानी, जयमती, हीलीबोन। इनमें क्रांतिकारी स्त्रियाँ भी हैं और जीवन परिवार के प्रति समर्पित नारी भी है। स्त्री पुरुष के काम सम्बन्धों का एक सामाजिक पहलू संतान होती है। संतान का अभाव और अधिक सालता रहता है। इसका कारण स्पष्ट है कि मातृत्व से ही स्त्री की पहचान होती है। हीलीबोन में मातृत्व का अभाव था इसी अभाव से विक्षिप्तता जैसी मानसिकता को प्राप्त करती है। जिसे अज्ञेय ने बड़ी गम्भीरता से चित्रित किया है। यही कारण है कि अज्ञेय के नारी पात्र वर्गीय चेतना, आन्तरिक मनोवृत्ति, पूर्णमनोविज्ञान तथा स्वतंत्र व्यक्तित्व से परिपूर्ण है। यह अज्ञेय की मौलिकता का परिचय भी है। अज्ञेय ने स्वतंत्रता की अनुभूति को ही मानव का वास्तविक अस्तित्व माना है। उनके नारी पात्र विचारों से भावनाओं से सशरीर हर क्षेत्र में सक्रिय रहे है। उनमें आदर्श के बजाय यथार्थप्रियता ज्यादा दिखाई पड़ती है जो उनके नये मौलिक प्रयोगों को उद्घाटित करती है। नामदेव जासूद के शब्दों में– ''समस्याओं के प्रति उसकी प्रतिक्रिया भी विद्रोहात्मक रही है। शुरू से ही उसने समस्याओं से समझौता नहीं किया और चुनौतियों का सामना किया है।''[18] स्पष्ट रूप से हम कह सकते है कि अज्ञेय ने जो नारी के मनोविज्ञान को तत्कालीन समाज में पढ़ने जानने और प्रस्तुत करने का प्रयास किया, उसी भावभूमि पर वर्तमान की स्त्री कथाकार अपनी संवेदनाओं और शोषण के विविध रूपों को प्रस्तुत कर रही हैं। अज्ञेय की कहानियाँ निःसंदेह स्त्री विमर्श की प्रस्तावना लिखती है। वह केवल गाँव देहात की प्रस्तावना नहीं देती अपितु वैश्विक स्तर पर पुरुष प्रधान समाज के साथ स्वच्छंद रूप से विचरण करती हैं। यही उनकी उपादेयता भी है।

संदर्भ सूची :

1. अज्ञेय, अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 55
2. वही, पृ0 95
3. वही, पृ0 100
4. वही, पृ0 100
5. अज्ञेय, अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 155
6. वही, पृ0 116
7. वही, पृ0 331
8. वही, पृ0 334
9. वही, पृ0 336
10. अज्ञेय, अज्ञेय की सम्पूर्ण कहानियाँ, पृ0 32
11. वही, पृ0 37
12. वही, पृ0 346
13. वही, पृ0 352
14. वही, पृ0 355
15. वही, पृ0 361
16. वही, पृ0 170
17. वही, पृ0 232
18. अज्ञेय साहित्य और चिंतन, संपा0 प्रा0 नामदेव जासूद, पृ0 25, अतुल प्रकाशन, पूजा प्रेस, कानपुर, संस्करण–2012

Vol. XV, [Issue No. 1, 2 & 3 combined], Jan.– Dec. 2018, ISSN: 0970-1745

मार्कण्डेय के उपन्यास सेमल के फूल में आंचलिकता

डॉ0 जगदीश प्रसाद शुक्ल
सह–आचार्य, हिन्दी विभाग
श्री रतनलाल कॉवरलाल पाटनी
राजकीय पी0जी0 महाविद्यालय, किशनगढ़
अजमेर, राजस्थान–305801

सेमल के फूल उपन्यास का प्रकाशन वर्ष 1956 ई0 है। इसकी भूमिका में नेमिचन्द जैन ने लिखी– ''सेमल के फूल में नीलिमा और सुमंगल के प्रेम की कहानी है। सुमंगल किसी बड़े जमींदार का बेटा है, जो राष्ट्रीय आन्दोलन में अपना सब–कुछ त्याग देते है। वह स्वयं आदर्शवादी, संवेदनशील, कलात्मक प्रवृत्ति का सुरुचिसम्पन्न व्यक्ति है। नीलिमा भी उसकी भाँति ही एक पुराने समृद्ध सामंती परिवार की माता–पिताहीन लड़की है। वह भी स्वभाव से बहुत ही अन्तर्मुखी, लजीली और बड़ी सुकुमार प्रवृत्ति वाली है। परिस्थितिवश दोनों सम्पर्क में आते है और सहज ही आकर्षित होकर एक दूसरे को प्यार करने लगते है। ....कथा मृत नीलिमा की डायरी में लिखी हुई कहानी के रूप में उसी के मुख से कहलायी गयी है और उसके समूचे वर्णन में उसके वर्तमान और अतीत ऐसे गुँथे हुए, एक दूसरे से सम्बद्ध अविभाज्य रूप में सामने आते है कि पूरा जीवन आलोकित हो जान पड़ता है।''[1]

आंचलिक कथाकार सम्बन्धित भू–भाग के प्रकृति, पशु–पक्षी, वनस्पति आदि के सर्वांगीण चित्रण पर विशेष ध्यान देता है। किसी भी क्षेत्र विशेष का बाह्य और आन्तरिक स्वरूप पाठक के लिए तभी स्पष्ट हो सकता है, जब वहाँ के प्राकृतिक उपकरणों–वनस्पतियों, तरह–तरह के पशु–पक्षियों तथा वहाँ के रीति–रिवाजों एवं त्यौहारों अंधविश्वासों तथा परम्पराओं आदि का विशिष्ट रूप से वर्णन किया है। यही कारण है कि आंचलिक उपन्यासों पर विशेष बल दिया जाता है। आंचलिक उपन्यासों में प्रकृति के सूक्ष्म संश्लिष्ट और स्वाभाविक चित्र–चित्रित किये जाते है। शहरी आकर्षण और चमक–दमक से दूर धरती का स्वच्छंद प्रांगण बसता है जहाँ वन्य कुसुम स्वयं खिलते और अपनी आभा बिखेरते है।

'सेमल के फूल' उपन्यास मैला आँचल के ढंग का नहीं है। इसमें पूर्ण आंचलिकता के तत्व नहीं मिलते, लेकिन यह भी ध्यान देने योग्य है कि आंचलिकता की अपनी सजग दृष्टि है। जीवन की सतत निरंतरता उसकी गतिशीलता में है। जीवन की जो सूक्ष्म दृष्टि है, उसे भी रेणु ने प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। पाश्चात्य कथा साहित्य में रोमाण्टिक आंदोलन का जो दौर चला उसे रेणु ने अपनी दृष्टि से और मार्कण्डेय ने अपनी दृष्टि से देखा है। आंचलिक उपन्यास की गति अनेक क्षेत्रों में होती है। आंचलिकता अपने सम्पूर्ण अस्तित्व में एक भावपूर्ण विचारणा है। इसकी अपनी मनोरम रसमयी सृष्टि हैं। अंचल की भौगोलिक स्थिति व वहाँ की संस्कृति का आश्रय वहाँ के हरित वैभव से सम्पन्न प्रकृति, नदी, पहाड़, झरने और उसके मनोरम दृश्यों में आनंदित होने वाला मानव उसकी रस सृष्टि का महत्वपूर्ण आधार भी है। आंचलिकता कोई वर्ग संघर्ष या यथार्थवादी प्रस्तुतीकरण ही नहीं है, अपितु इसमें हम गाँव की खुशबू, स्थानीय रंगत में रंगे सभी तत्वों को भी देख सकते है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक चित्रण से इतर प्रेम सम्बन्धी चित्रण भी इसमें कर सकते है। अपनी भावनाओं, अपने विचारों को एक रूप या आकार दे सकते है, जैसे सेमल के फूल में नीलिमा कहती है– ''ऐसी ही एक शाम को मेरी मृत माँ सदेह सामने खड़ी हो गयी। संझलौका था, मंटू ने अभी बत्ती भी नहीं जलाई थी। बरामदे के मोढ़े पर बैठी, घुटि्टयों पर पड़े घूँघरू की पटि्टयों के निशान देखने की कोशिश कर रही थी। लगा, किसी ने कहा हो, 'थक गयी न, चल मालिश कर दूँ।' मैंने अकचका कर देखा तो वहाँ कोई छाया भी न थी। फिर बहुत रोना आया।''[2]

इन वाक्यों को देखने से प्रतीत होता है कि 'संझलौका', 'अकचका' जैसे स्थानीय शब्द की छौंक इसमें लगाये गये है। सेमल के फूल में कथा चरित्र और वातावरण के संदर्भ में प्रेम संवेदना अत्यंत

कुशलता से उद्धृत हुई है। इसमें समाज और उसके अवयवों का भी पुट विद्यमान है। प्रेम के मानसिक रूप की भी सृष्टि की गयी है। इसमें प्रेम जो कि दृष्टि का प्रेरणास्रोत है, केन्द्र बिन्दु बना है। उसका कुशलतापूर्वक आचरण भी किया है। ''तुम्हारी वह प्रतीक्षा की मुद्रा आँखों की उदास और अधझँपी भौहे, हाथों और उँगलियों का पुष्पित, पर्वती ढलान सा उतार...... तुम बोलते जाते और मैं तुम्हारे दूरस्थ केन्द्रित नेत्रों को बगल से देखती रह जाती थी।''[3]

आंचलिक सर्जना में अंचल का समस्त चित्र उपस्थित होता है। रचनाकार का लक्ष्य सम्पूर्ण चित्रों के माध्यम से अंचल की धरती, घास–फूस, नदी–नाले, पशु–पक्षी, डेरे–डंडे, हल–बैल, गाय–भैस, तिथि–त्योहार, मेले–ठेले, भाषा, गीत–संगीत सबका चित्रण और संवाद आदि को भी प्रस्तुत करता है। आंचलिक व्यक्तियों की ही नहीं जीव–जन्तुओं का भी समग्र चित्रण किया जाता है। पात्रों के साथ कथाकार इस प्रकार बोलता है जैसे पात्रों की कोई वीडियोग्राफी (चल–चित्र) बनायी गयी हो। रेणु आंचलिकता के पुरस्कर्ता है, लेकिन वे आंचलिकता को आधार बनाकर किसी वाद, मतवाद या विचारधारा नहीं थोपना चाहते थे। कथा साहित्य में मार्कण्डेय ने समाज का कोई कोना नहीं छोड़ा है। उपन्यास भले ही दो ही है लेकिन कहानियों के समग्रता को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

मानव की विविध परिस्थितियों और परिवेश को पूरी समग्रता के साथ चित्रित करना किसी साहित्यकार के लिए आसान नहीं होता है, क्योंकि इसके लिए उसे जन–जीवन से जुड़ना पड़ता है। जो साहित्यकार जन–जीवन से जितना अधिक सम्पृक्त होता है, वही मानव जीवन का अध्ययन अधिक गहराई से कर सकता है। फिर उसे अपने शब्दों के माध्यम से एक बिम्ब का निर्माण करता है। आंचलिकता की भाषा में कहे तो वह जन–जीवन की झांकी प्रस्तुत कर सकता है। मार्कण्डेय द्वारा प्रस्तुत या उठायी गयी समस्यायें व्यक्तिगत एवं पारिवारिक न होकर समाजव्यापी एवं सामाजिक संवेदनाओं को स्पर्श करती है। इन्होंने भारतीय जनमानस की अनेक समस्याओं को कथा साहित्य में पर्याप्त जगह देने का प्रयास किया है। इनके यथार्थ चेतना में एक जरूरी पक्ष दिखाई पड़ता है। जिसमें घटनाओं, प्रसंगों, दृश्यों, व्यापारों, वेश–भूषा, खान–पान आदि की यथातथ्य पहचान भी है।

मार्कण्डेय की प्रगतिशीलता यथार्थ के ढाँचे से इतर नहीं थी। एक कथाकार के कारण अर्थकेन्द्रित समाज व सभ्यता पर उनकी नजर तीखी होती थी। शहर हो या गाँव उनकी सर्जनशीलता पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, वो अपने ढर्रे के अनुसार निरन्तर चलते रहते थे। मनुष्य का एक वर्ग ऊपर से समृद्ध होता जा रहा है और भीतर से रिक्त, दरिद्र और हीन होता गया। किसान मजदूर या निम्न मध्यवर्ग आर्थिक रिक्तता के दबाव में अनेक प्रकार के अमानवीय पीड़न, अपमान, अभाव सहने के लिए अभिशप्त हुआ। मार्कण्डेय के उपन्यासों में सामाजिकता का अवदान अधिक है।

कुछ समस्यायें परम्परा से जन्मी है और कुछ सामयिक परिस्थितियों की देन है। गाँव हो या शहर, महल हो या झोपड़ी, सवर्ण हो या अछूत, हर किसी की समस्याओं को प्रमुखता के साथ प्रश्न बनाकर समाज के सामने प्रस्तुत करना और उनके लिए मनोवांछित समर्थन जुटाना, उनके लिए कुछ कठिन नहीं है। मार्कण्डेय ने हर किसी की पीड़ा को अपनी लेखनी का विषय बनाया है। एक मानवतावादी विचारक की भाँति उसके जीवन के निकट बैठकर सहानुभूति के शब्दों से उसे अत्यन्त अपनी संवेदना या अपनत्व देने का प्रयास करते है। नेमिचन्द जैन ने सेमल के फूल की भूमिका में लिखा– ''अस्सी पृष्ठों की यह कथा कही भी बहुत शिथिल नहीं पड़ती। भावना का एक सा तनाव आदि से अंत तक बना रहता है जो पाठक को एक दम भावाभिभूत कर देता है। सहज भावावेग की इस प्रबलता के कारण ही कथा में जो कही–कही सूत्रहीनता है, उस पर मन अधिक नहीं अटकता। सुमंगल क्यों नीलिमा से विवाह नहीं करता इसका कोई ठीक औचित्य समझ में नहीं आता। पर नीलिमा की पीड़ा की तीव्रता और सच्चाई के कारण यह दुर्बलता ढँक जाती है।''[4] इसमें प्रेम संवेदना के पीछे एक नया रूप उभरकर सामने आता है। यहाँ प्रेम असफल नहीं है, अपितु अकथ्य है। प्रेम की भाषा होती है। संवेदना भी होती है लेकिन महसूस करने वाले पर निर्भर करती है। इस उपन्यास में प्रेमिका के व्यक्तित्व को निखारने पर भी भाषा व संवेदना सहयोग करती है। खास तौर पर प्रसंगानुकूल कथ्य और शिल्प दोनों प्रयुक्त किये गये है।

सेमल के फूल की प्रकाशन तिथि 1956 ई0 है इससे स्पष्ट होता है कि आजादी के 9 वर्ष पश्चात् के भारत की सच्ची तस्वीर प्रस्तुत किया गया है। यह 80 पृष्ठों में लिखा गया लघु उपन्यास भी

कहा जा सकता है। यह मार्कण्डेय के लेखन के आरंभिक दौर की कृति है। इसमें लेखक ने रोमांटिक भावबोध को चुना है। सुमंगल और नीलिमा की लम्बी प्रेम कहानी है। उपन्यास की कथावस्तु नीलिमा द्वारा लिखी गयी डायरी के रूप में लेखक ने प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही शहरी मध्यवर्गीय जीवन का भी चित्रण किया गया है। इसके प्रमुख पात्र सुमंगल और नीलिमा है। जबकि गौण पात्रों में जया, अमृता, शीबू, मौसा, मौसी, मंटू आदि है।

सुमंगल एक रईस व बड़े जमींदार का बेटा है, जिसने राष्ट्रीय आंदोलन में अपनी सम्पूर्ण धन–सम्पत्ति न्यौछावर कर दिया। सुमंगल भी अपने पिता के पद चिह्नों पर चलता है। वह पिता के आदर्शवादी संस्कारों को लेकर जीवन की कर्मभूमि में प्रवेश करता है। नीलिमा का भी जीवन अपने झंझावातों से गुजरता है। उसके जन्म लेते ही पिता का साया उठ जाता है। और यौवन के दहलीज पर उसकी माँ चल बसी। अब जीवन की डोर संभालने के लिए मौसी ही एक मात्र सहारा बनती है। जहाँ एक अजनबी के रूप में सुमंगल का प्रवेश होता है। दोनों में एक दूसरे के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता है, लेकिन शील संकोच के स्वभाव के कारण प्रेम जाहिर नहीं हो पाता है। सुमंगल की ऊर्जा देश प्रेम में समर्पित है और नीलिमा सुमंगल के प्रेम के पलके बिछाये इंतजार करती है। दोनों के बीच अव्यक्त प्रेम ही है, जिसे दोनों लोक–लाज, संकोच, शर्म बस एक दूसरे से व्यक्त नहीं कर पाते है। न तो सुमंगल, न ही नीलिमा कोई भी अपने प्रेम को प्रकट नहीं कर सके। फलतः अनुभूति के स्तर पर ही दोनों का प्रेम बना रहता है। नीलिमा का विवाह अन्यत्र हो जाता है, इसके बावजूद न तो नीलिमा सुमंगल को भूल पाती है, न ही सुमंगल नीलिमा को। दोनों में अतृप्त का भाव बना रहता है। प्रेम की पीड़ा, कसक निरन्तर बनी रहती है। जहाँ नीलिमा अंदर ही अंदर घुटती रहती है, वही सुमंगल अपने व्यस्ततम् दिनचर्या से नीलिमा को याद करने का अवकाश नहीं पाता है। नीलिमा इस घुटन, इस दर्द से रोगग्रस्त हो जाती है। अंत में उसका प्राणान्त हो जाता है।

''समूची कथा नीलिमा के डायरी में लिखे हुए प्रसंगों को लेकर सामने आती है, अर्थात् अपने जीवन से संबंधित जिन प्रसंगों को नीलिमा ने अपनी डायरी में अंकित किये थे, लेखक ने उन्हीं प्रसंगों को प्रस्तुत करते हुए एक उपन्यास का रूप प्रदान कर दिया है।''[4] यह उपन्यास अव्यक्त प्रेम का कारुणिक परिणाम भी देता है। समूची कथा में भावुकता का ताना–बाना और प्रवाहमयता दोनों दिखाई पड़ती है। इसी भावुकता के कारण कथा में पाठक प्रारम्भ से अंत तक जुड़ा रहता है। इस उपन्यास का कथाशिल्प केवल लेखकीय दृष्टि से युक्त नहीं है अपितु, सहजता, शालीनता, सरसता की ओर विद्यमान है। नेमिचन्द जैन लिखते है– ''सेमल के फूल में बड़ी धार है जो उस अनुभूति के साथ लेखक के गहरे तादात्म्य के कारण उत्पन्न हुई है। इसीलिए अस्सी पृष्ठों की यह कथा कही भी बहुत शिथिल नहीं पड़ती। भावना का एक सा तनाव आदि से अंत तक बना रहता है जो पाठक को एकदम भावाविभूति कर देता है।''[5]

इस उपन्यास को आंचलिकता के साँचे में देखा जाये तो व्यक्ति मन की जो स्थितियाँ होती है, आन्तरिक पीड़ा और आंतरिक जीवन का बिम्ब–प्रतिबिम्ब भाव मानवीय सरोकारों से जुड़ता जाता है। समाज और व्यक्ति के सम्बंधों को भी लेखक ने बड़ी गहराई से प्रस्तुत किया है। यह उपन्यास शहरी और ग्रामीण परिवेश दोनों से जुड़ा है। भले ही इस उपन्यास को शहरी परिवेश का माना जाय लेकिन इसमें अंचल की सोंधी मिट्टी की खुशबू इसमें दिखाई पड़ती है।

सुमंगल और नीलिमा कथा के मुख्य पात्र है। सम्पूर्ण कथा इन्हीं दोनों के इर्द–गिर्द घूमती रहती है। नीलिमा की डायरी में वो बातें भी है जिसमें आंचलिकता के दृश्य दिखाई पड़ते है– ''क्योंकि तुम्हारे हाथ में एक ऐसी कलम है, जो अपने पैनेपन के बावजूद दुधमुँहें बच्चे को सुलाने वाली लोरियों से भी मधुर और पवित्र गीत गा सकती है। जो कालकूट भैरव की क्रोधाग्नि को शांत करने के लिए पार्वती सुकुमार होठों का सुमधुर सम्भाषण लिख सकता है। जो कालिदास के विरही यक्ष की वायु में उड़ती वाणी को लिपिबद्ध कर सकती है। मैं तो नितांत सरलता में जीती हूँ– जीती रही हूँ।''[6] भाषा ठेठ भले ही न हो परन्तु देशज शब्दों का स्वभावतः प्रयोग मिलता है जो आंचलिकता के सांचे में आता है– ''आज उसका स्मरण करके यही लगता है कि देवों ने संध्या का सृजन करके उसे सबसे पहले तीर्थराज ही में उतारा होगा। गुलमुहर की फुनगियों में आग की लपटे छिपाकर किसी ने चुपके से इस फागुनी शाम की माँग भर दी होगी। पर मुझे क्या पता!''[7]

उपन्यास अपने विषय के अनुरूप पाठक को धीरे–धीरे परिवेश और यथार्थ के प्रसंगों से जोड़ता चलता है– ''ना ना बिटिया, इतमान छू भी नहीं गया है। मंटू ने अपने ढीले ओठों में बीड़ी दबाकर दियासलाई जलाई, तो कुछ और बोलने की उतावली उसकी आँखों में चमक गयी। मुझे लगा जाने क्या इसके मुँह से निकल जाये। कोई ऐस–वैसी बात ही कह बैठे बूढ़ा।''[8] कभी–कभी हम किसी से इतनी आत्मीयता से जुड़ जाते है कि हमारी भाषा उसके हृदय को गुदगुदाने लगती है। उसे अपने होने का अहसास भी दिलाती है– ''मैंने झिड़की के लहजे में कहा, चलो, चलो तो बड़े आये हो प्यार दिखाने। वह बहुत उदास हो गया और अपनी लम्बी जीभ निकाले, अपनी भारी झुकी हुई पूँछ को और झुकाकर, कमरे में इधर–उधर चक्कर काटने लगा– धीरे–धीरे वह मेरे पास आकर खड़ा हो गया और मेरी ओर देखने लगा।''[9]

'सेमल के फूल' में प्रेम कथा है लेकिन यह पूर्णतया प्रेम कथा नहीं है। क्योंकि इसमें समाज आया है। समाज की कुरीतियाँ भी, ऊँच–नीच भी। सच्चे प्रेम का यह कमाल है; बल्कि ताकत है कि वह प्रायः विपरीत परिस्थितियों में जन्म लेता है। परवान चढ़ता है, सबको तोड़ता, रौंदता चट्टान में फूल खिलाता है, कि उसकी खुशबू से ही समाज की बदबू दूर होती है। कुरीतियाँ टूटती बिखरती है या दूर करने की चुनौती स्वीकार की जाती है।

मार्कण्डेय ग्रामीण जीवन के कथाकार है, जहाँ कथा साहित्य की पहली पीढ़ी शहरी परिवेश को लेकर पहुँची थी। वही रेणु, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह जैसे कथाकरों ने गाँव में क्या घट रहा है और किस प्रकार घट रहा है। गाँव में कितनी मृत्यु, कितना रूदन और कितने तरह के तनाव है। भारत के एक विशाल समाज की सच्चाइयाँ साहित्य के पन्नों पर नहीं है या काफी कम है। वे अखबार के पन्नों पर होती है, पर साहित्य में बहुत कम। ऐसी परिस्थिति और परिवेश में मार्कण्डेय का कथा साहित्य अपनी सीमाओं में आधुनिक साहित्य के एक जरूरी रूझान की अहमियत की ओर इशारा भी करता है। ग्रामीण और कृषक विमर्श ही है जिसमें आंचलिकता अनायास ही प्रविष्ट हो जाती है।

साहित्य में कोई भी आग्रह चाहे वह 'वाद' का हो या वस्तु का, जब नारा और झण्डा बनकर आता है, तब उसकी परख, बरबस लोग इस आग्रह के ही इर्द–गिर्द सीमित कर देते है और उसके पक्ष या विपक्ष में कह सुनकर ही अपने कर्त्तव्य की इति श्रीमान बैठते है। 'सेमल के फूल' गाँवों से हटकर प्रेम–विषयक लघु उपन्यास या एक लम्बी प्रेमकथा है; जो अपरिपक्व किशोर वय की मानसिकता और भावुकता ही प्रक्षिप्त करती है। यो तो इसमें दावा यह किया गया है कि वह प्रेम के अस्वस्थ अथवा आरोपित आदर्शों वाले कथानकों से भिन्न एक विचारपूर्ण काव्यात्मक कथानक है। आदर्श का जहाँ तक प्रश्न है; इसमें आगत का तपोमय स्वागत और आत्मत्याग के महत्तर संस्कार की बात भी कही गयी है। 'सेमल के फूल' में इसे देख सकते है– ''लेकिन यह सब क्या लिख गयी। कहानी बेचारी कहाँ छूट गयी। इसी से तो कहती हूँ कि मुझे क्या शउर, कथा लिखने का! अगर कही यह कहानी छप जाए, तो लोग क्या कहेंगे, मुझे मध्यवर्गीय परिवारों की असफल प्रेमिकाओं का एक गंदा नमूना है यह कहानी। ..... .यही न! पर उन्हें क्या पता कि प्रेम असफल नहीं होता अगर वह प्रेम है।''[10]

परन्तु मूल प्रश्न तो यही है कि, ये आदर्श किस दृष्टि से नये है ? इसे न तो कथा का परिणाम कह सकते है न ही चरित्रों की प्रस्तुति। वस्तुतः कथा और चरित्र का कोई निजी अस्तित्व ही यहाँ नहीं है। इन चरित्रों अथवा पात्रों का कोई जीवन्त संदर्भ नहीं दिखाई पड़ता है। बस! उनकी प्रसंग–गत विवशता ही दिखाई पड़ती है। मूल स्वरूप इनका वही किशोर भावुकता वाला प्रसंग ही है। यथा नीलिमा का चरित्र शरतचन्द चट्टोपाध्याय के पारो अथवा जयशंकर प्रसाद के मधूलिका के त्याग और बलिदान के सदृश है। नायक तो गुनाहो के देवता के 'चन्दर' सदृश है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सेमल के फूल' की कथा मध्यवर्गीय मानसिकता की असफलता से शुरू होती है और अन्त भी उसी असफलता से ही होता है। प्रेम में घनत्व या गहराई कहाँ तक है, यह भी विचारणीय नहीं हो पाता। पात्रों के प्रेम सम्बन्धी भाषणों से ही कोई कृति विचारणीय नहीं हो पाती। प्रेम एक संश्लिष्ट स्थिति और समग्र व्यक्तित्व की प्रक्रिया है। प्रेम के एक से एक विशिष्ट किस्से घटते है लेकिन विशेष घटना के चित्रण या जीवन के बाह्य उपकरणों से ही कोई रचना विशिष्ट या नयी नहीं हो जाती। इसे लेखक की दृष्टि ही विशिष्ट और नया बनाता है। इसे प्रस्थान या निर्वाह से ही व्यवस्थित करता है। ग्राम चरित्रों और कथानकों के प्रति एक आग्रह इस रचना में प्रसंगवश अवश्य उभरता है। नायक स्वयं कहता है– ''हिन्दुस्तान में किसी

ऐसे सामाजिक उत्थान की कल्पना ही करना भयानक भूल होगी। जिसमें किसान का जीवन पीठिका में न हो। किसान सभ्यता के विकास में, भारतीय कृषक के व्यक्तिगत श्रम को मान्यता देकर मशीन को केवल सहायक रूप में रखना होगा। लोग भावुकता और सहानुभूति के चश्मे लगाकर गाँव को देखना चाहते है। किसान के संस्कारों में सड़ने वाले नासूर पर इत्र का फाहा लगाकर उसे अच्छा करना चाहते है।''[11]

मार्कण्डेय ने गाँवों को जो कुछ देखा उसमें उनकी दृष्टि में करुणा और हृदय से परिपूर्ण थी। एक मोह और विक्षुब्धता दोनों थी। मोह ग्रामीण जनों के प्रति था और विक्षुब्धता शोषण, अनाचार, अत्याचार से था। यही नयापन उनमें परिस्थितियों के परिवर्तन से पैदा हुआ। सामान्य जीवन की भावभूमि पर उसकी संवेदनाएं गतिशील बनी। नीलिमा का चरित्र एक व्यक्तिवादी भूमि पर गतिशील होने वाला चरित्र है। उसके चरित्र का विकास लेखक ने प्रेम के क्षेत्र में दिखाया है जिसका सम्बन्ध उसकी निजी जिंदगी से है। वह अपने इस प्रेम को लिए हुए एक मौन साधिका के रूप में अपना परिचय देती है। ''नीलिमा में नारी सुलभ समस्त कोमल भावनाएँ विद्यमान है। वह दया और करुणा की साक्षात् मूर्ति है। यद्यपि जया का आकर्षण भी सुमंगल के प्रति है, किन्तु जया के प्रति उसके मन में कोई ईर्ष्या–द्वेष की भावना नहीं है; क्योंकि उसे अपने प्रेम पर विश्वास है। वह कला अनुरागिनी भी है। नृत्यकला में उसकी विशेष रुचि है। उसमें एक कुशल लेखिका के गुण भी विद्यमान है। उसके मन में भोगे हुए जीवन की सच्ची अनुभूतियाँ है जिन्हें वह अत्यंत सहज स्वाभाविक रूप में अभिव्यक्त करने की क्षमता रखती है। इसका प्रमाण उसकी वह डायरी है जिसमें अत्यंत काव्यात्मक रूप में वह अपनी प्रेम कहानी को लिखती है।''[12]

नीलिमा उस प्रेम में भी अपनत्व का अहसास कराती है– ''मेरे सामने तुम खुलते जा रहे थे, ठीक उसी तरह, जैसे सूरज की पहली किरणों के प्रभाव से कमल की पंखुड़ियाँ एक–एक कर खुल रही हो, जैसे उस रहस्यमय हल्की हरी पत्तियों के नीचे का शुभ्र प्रदेश और पवित्र पीला कमलबन्द..... सच प्राण! तुम एक दम वही थे। तुम्हारे हृदय को मैंने खूब टटोल कर देखा था, पर उसमें कही तो कलमष होता।''[13]

नीलिमा का प्रेम एक व्यक्ति विशेष का प्रेम है जिसे सर्वव्यापी रूप में किसी समर्पित भाव के व्यक्ति से भी जोड़ा जा सकता है। वह मध्यवर्गीय संस्कारों में जकड़ी हुई है और आदर्शों को लेकर जीती है। सामाजिक मर्यादा और लोकलाज का उसे अधिक ख्याल है। उसका स्वभाव भी संकोचशील है। ग्राम्य क्षेत्रों, शहरी क्षेत्रों एवं निम्न मध्यवर्ग एवं मध्यवर्गीय संस्कारों में पली बढ़ी वह स्त्री प्रायः संकोचशील ही होती है। उसे अभिजात्य संस्कार और उत्तरआधुनिकता ने अभी स्पर्श नहीं किया है। ऐसी संवेदनाओं में जीने वाली स्त्रियों का प्रेम अव्यक्त ही रहता है। नीलिमा की सोच क्या है उसे वह स्वयं व्यक्त करती है– ''तुम क्षण भर को देखते रहे, फिर मुझसे सटकर बैठ गये। ओह...... वह स्पर्श आज भी मेरे माथे पर अंकित है। तुम अपना हाथ मेरे शरीर के दूसरी ओर टेककर, मेरे चेहरे पर जिस तरह देखने लगे थे, वह आज भी किसी चिरंतन सत्य की तरह मेरी साँसों का हार बना हुआ है।''[14]

जन व्यवहार में भाषा का रूप ग्रहण भाषा वैज्ञानिक नियमों के अनुसार भी स्वाभाविक है। प्रायः भाषा जिह्वा की सुविधा की प्रक्रिया में चलती है अर्थात् जो शब्द जीभ को बोलने में असुविधा होगी, वह उस शब्द को अपनी सुविधानुसार ढाल लेगी, यही व्यक्तिगत सुविधा का रूप जब सामाजिक रूप ले लेता है तो ये शब्द अपने विशेष सन्दर्भों में प्रचलित हो जाते है। सुमंगल तो प्रतीक मात्र है। कथाकार ने नीलिमा के माध्यम से युवको को संदेश देने का प्रयास किया है, कि उसके हृदय में भी इसी प्रकार की प्रेम भावना होनी चाहिए। सुमंगल को नीलिमा का अव्यक्त प्रेम ही डायरी में व्यक्त हो रहा है। मार्कण्डेय की विचारधारा भी संवेदनशीलता को ग्रहण करती है। प्रेम को वह जीवन में एक स्वाभाविक मांग के रूप में देखते है। मार्कण्डेय की प्रगतिवादी विचारधारा में भी प्रेम सहज, स्वाभाविक और प्राकृतिक होता है जिसे आत्मा के स्तर पर नहीं जिया जा सकता है। वह जीवन की सफलता और सहायता के लिए होता है।

मार्कण्डेय यह मानते है कि एक सफल रचनाकार तो है ही, ये समाज के एक जागरूक व्याख्याता भी है। वे जानते है कि एक रचनाकार को न केवल एक समृद्ध सामाजिक अनुभव प्रस्तुत करना चाहिए, अपितु अपनी रचना के माध्यम से एक व्यापक सामाजिक तथा राजनीतिक सन्देश भी

किसी न किसी रूप में देना चाहिए। वे प्रारम्भ से ही एक प्रगतिशील कथाकार रहे है। उनके मन में यह बात सदैव रहती थी कि किस तरह हम अपनी स्वस्थ परम्पराओं और गरिमामय आदर्शों को परिवर्तनकारी विचारधारा और परिप्रेक्ष्य का हिस्सा बनायें। इन सब पात्रों की गहरी मानवीयता और पारस्परिक स्नेह की भावना तीखे सामाजिक संघर्ष के क्षण में लोगों के बीच ऐसा विभाजन पैदा कर सकती है कि शासक वर्ग सहसा अपनी रही–सही प्रतिष्ठा खो दे और सामूहिक आक्रोश का सीधा लक्ष्य बन जाये। गाँधीवाद का एक मजबूत सामाजिक आधार यही मानवीयता और नैतिक भावना रही होगी।

मार्कण्डेय की कथा भूमि अधिकांशतः देहातों के जीवन और वातावरण से सम्बन्धित है। यह अपने–आपमें कोई नयी अथवा विशेष बात नहीं है, क्योंकि पिछले दिनों में हिन्दी के बहुत से तरुण साहित्य–शिल्पियों का ध्यान फिर से देहाती जीवन की ओर गया है। नये–नये लेखकों ने हठात् अनुभव किया है कि नगरों के उलझे हुए कुण्ठाग्रस्त और अपेक्षाकृत सहानुभूतिहीन जीवन की अपेक्षा शायद देहात के सहज–सरल जीवन में आत्मीयता भी अधिक है और जीवन की नाटकीयता भी। देखने में यह आता है कि प्रेमचन्द के बाद कथा साहित्य में देहाती जीवन का चित्रण बड़ी कुशलता से करने वाले मार्कण्डेय ही है।

'सेमल के फूल' का यथार्थ अपने आप में बहुत ही करुण भी है और बहुत सम्मोहनपूर्ण भी। इसे जो भी जितने सहज, निश्छल निष्कपट और आत्मीयता के भाव से देख सकता है उतना ही यह जीवन को समझने और अभिव्यक्त करने के लिए अपने–आपको समर्थ बनाता है। भले ही कहानी में कोई नवीनता नहीं है। परन्तु प्रत्येक देश में इस प्रकार की कहानी विविध रूपों में विविध ढंग से लिखी गयी है। जिसे प्रत्येक बार नयी अनुभूति, प्रत्येक नयी पीड़ा उसे नये ही रूप में उद्भासित करती है। प्रेम और उसकी पीड़ा की कहानी एक प्रकार से लगभग चिरन्तन ही है, चाहे वह पीड़ा सामाजिक कारणों से उत्पन्न हो, राजनीतिक परिस्थितियों की टकराहट से उत्पन्न हो अथवा व्यक्ति के मन की अपनी ही दुर्बलताओं या उलझी हुई गाँठों के कारण उत्पन्न हो। यह भी देखा जाता है इसमें तीव्रधार लाने का कारण लेखक होता है। सुमंगल के चरित्रांकन में रंग की एक रसता है, उसके व्यक्तित्व की गहराई अधिक नहीं उभरती और एक प्रकार के आदर्श चित्र जैसा सामने आता है। साथ ही समूची कहानी को इतनी तीव्रता नीलिमा के अपने लगभग विक्षिप्त भावावेग के कारण ही प्राप्त होती है। हल्की रेखाओं में जया, शिबू, अमृता आदि के जो चित्र उपस्थित हुए है उनमें नीलिमा के अपने व्यक्तित्व का बड़ा ही प्रतिफलन है।

'सेमल के फूल' की सफलता का मूल कारण है कि उलझाव की कथा होकर भी सहज और सरल रूप में प्रस्तुत किया जाना। भले ही लेखक ने इसे प्रयत्नपूर्वक सहानुभूति देने का प्रयत्न किया है; फिर भी उसके वह नवीनता चित्रात्मकता नहीं दिखाई पड़ती जो होनी चाहिए। कहानी तो पूर्वावलोकन (फ्लेशबैक) पद्धति से चलती है। शीर्षक बहुत ही भावुकता तथा अतिरंजनापूर्ण जान पड़ता है। लेकिन शहरी मध्यवर्गीय व्यक्ति के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को अधिक आत्मीयता और सूक्ष्मता से पहचानते है। विशेषकर ऐसे युवक के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को, जिसके संस्कारों के पीछे कही देहाती जीवन की छाप भी हो। कही न कही इस उपन्यास के माध्यम से उन्होंने अपने समाज को व्यापक नजर से देखा है।

''धीरे बहु नदिया तै धीरे बहु,
मेरा पिया उतरइ दे पार.....
काहेन की तेरी नइया रे,
काहे की करूवारि।
कहाँ तेरा नइया खेवइया,
के धन उतरई पार।
धरमै कै मेरी नइया रे,
सत कइ लागी करूवारि।
सैंया मेरा नइया खेवइया रे,

हम धन उतरब पार......''[15]

प्रस्तुत गीत के माध्यम से हहाती हुई पानी की धारा में अपने प्रिय के पार उतरने के लिए नदी का गीत गाया जाता है। इसमें लोक–मन का दर्द और उसकी आकांक्षाएँ अभिव्यक्त होती हैं।

भारत के गाँवों में मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक विविध अवसरों पर लोकगीत गाए जाते हैं। इसमें जन्म, मुंडन, यज्ञोपवीत, विवाह, गवना तथा विदाई के साथ विभिन्न ऋतुओं और पर्वों पर गाये जाने वाले गीत आते हैं। ग्राम–जीवन में प्रकृति पूजा के अवसर पर भी गीत गए जाते हैं। इसके अंतर्गत नदी, पर्वत, वृक्ष तथा पशुओं से संबंधित गीत होते हैं।

मार्कण्डेय के 'अग्निबीज' में गाँव की औरतें बजमा नदी की पूजा कर उसकी मनौती मनाती हैं। बरसात के दिनों नदी का पानी मंदिर की सीढ़ी छूते ही औरतें कहने लगती– बजमा आँचल पसार रही है, बजमा सिंधूर–टिकुली माँगती है और गाँव की स्त्रियाँ सुहागिन का माथा भरने के लिए घर–घर से कतार बनाकर, गाती–बजाती निकलती हैं–

''बजमा हथवा कगनवां मैं लायी हो ना।

बजमा मंगिया सेंधुरवा मैं लाई हो ना।।

बजमा मथवा टिकुलिया मैं लाई हो ना।''

बजमा नई सुहागिन बहुओं की ही आरती स्वीकार करती है और गाँव की का पुरइन के पत्तों पर रखा पाँव पखार कर वापस उतर जाती है–

''बजमा गँउआँ क कुंआरी चिरइया हो ना,

बजमा रचि–रचि पइयाँ मेहंदिया हो ना

बजमा भुइयाँ धरे पुरइनियाँ हो ना

बजमा मांगेनी तोहरी असिसियाँ हो ना।''[16]

पाँव में मेंहदी रचायी जाने पर गाँव की कुँआरी कन्याएँ बजमा की पूजा करने जाती हैं और आशीष माँगती हैं।

'दो पैसे का नमक' एकांकी के आरंभ में लेखक ने दृश्य संकेत के लिए लोकगीतों की रचना की है। एकांकी के प्रारंभिक दृश्य में ''किसी के दूर से विरहा गाने और बीच–बीच में अपने जानवरों के हाँकने की आवाज सुनाई पड़ती है–

प्रिया पिया कहत भइल देहियाँ,

लोगवा कहेला पिंड़ रोग।

गउवाँ के लोगवाँ मरमिया न जान ले,

भइले गवनवाँ न मोर।''[18]

इस गीत में नाटककार ने ग्रामीण परिवेश की मानसिकता को अभिव्यक्त किया है। अतः कहा जा सकता है कि मार्कण्डेय के साहित्य में प्रयुक्त लोकगीतों में परिवेशगत वैशिष्ट्य की झलक मिलती है। इनके लोकगीत ग्रामीण लोक जीवन में परिव्याप्त जन–मानस की भावनाओं, उनके हर्ष, उल्लास, सुख–दुःख और पीड़ा की अनुभूतियों को लयात्मक और कलात्मक रूप प्रदान कर लोक–संस्कृति का मूर्त रूप उद्घाटित करते हैं।

संदर्भ सूची :

1. मार्कण्डेय, सेमल के फूल, भूमिका से
2. मार्कण्डेय, सेमल के फूल, पृ0 17
3. वही, पृ0 14
4. मार्कण्डेय, सेमल के फूल, भूमिका से
5. डॉ0 सुरेन्द्र प्रताप, मार्कण्डेय का रचना संसार, पृ0 30–31
6. वही, पृ0 31
7. मार्कण्डेय, सेमल के फूल, पृ0 14
8. वही, पृ0 16
9. वही, पृ0 20
10. वही, पृ0 20–21
11. वही, पृ0 26
12. कथा, संस्थापक मार्कण्डेय, मार्कण्डेय स्मृति अंक, पृ0 336, 15 मार्च, 2011, संस्करण–2011
13. डॉ0 सुरेन्द्र प्रसाद, मार्कण्डेय का रचना संसार, पृ0 37
14. मार्कण्डेय, सेमल के फूल, पृ0 50
15. वही, पृ0 59
16. कहानीकार मार्कण्डेय, डॉ0 सुजीत कुमार, पृ0 96
17. कथा संपादक मार्कण्डेय, मार्च–2011, पृ0 294–295
18. पत्थर और परछाइयां, मार्कण्डेय, पृ0 91